❀ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ❀

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बन्धनकर ॥

वर्ष ३ | गौराब्द ४७१, मास—केशव ९, वार—क्षीरोदशायी
शनिवार, ३० कार्त्तिक, सम्वत् २०१४, १६ नवम्बर १९५७ | संख्या ६

श्रीश्रीउपदेशामृतम्

[श्रीमद्-रूप-गोस्वामि-विरचितम्]

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं जिह्वा-वेगमुदरोपस्थ-वेगम् ।
एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ॥१॥

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रहः ।
जनसङ्गश्च लौल्यञ्च षड्भिर्भक्तिर्विनश्यति ॥२॥

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात् तत्तत्कर्म—प्रवर्त्तनात् ।
सङ्गत्यागात् सतो वृत्तेः षड्भिर्भक्तिः प्रसिध्यति ॥३॥

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीति-लक्षणम् ॥४॥

कृष्णेति यस्य गिरि तं मनसाद्रियेत दीक्षास्ति चेत् प्रणतिभिश्च भजन्तमीशम् ।
शुश्रूषया भजनविज्ञमनन्यमन्य-निन्दादिशून्यहृदमीप्सित-सङ्गलब्ध्या ॥५॥

दृष्टैः स्वभाव-जनितैर्वपुषश्च दोषै-र्न प्राकृतत्वमिह भक्तजनस्य पश्येत् ।
गङ्गाम्भसां न खलु बुद्बुद-फेन-पङ्क-ब्रह्मद्रवत्वमपगच्छति नीरधर्मैः ॥६॥

स्यात् कृष्णनाम-चरितादि-सिताप्यविद्या-पित्तोपतप्त-रसनस्य न रोचिका नु ।
किन्त्वादरादनुदिनं खलु सैव जुष्टा स्वाद्वी क्रमाद्भवति तद्गदमूलहन्त्री ॥७॥

तन्नाम-रूप-चरितादि-सुकीर्त्तनानु-स्मृत्योः क्रमेण रसनामनसी नियोज्य ।
तिष्ठन् व्रजे तदनुरागि-जनानुगामी कालं नयेदखिलमित्युपदेश-सारम् ॥८॥

वैकुण्ठाज्जनितो वरा मधुपुरी तत्रापि रासोत्सवाद् वृन्दारण्यमुदारपाणि-रमणात्तत्रापि गोवर्द्धनः ।
राधाकुण्डमिहापि गोकुलपतेः प्रेमामृताह्लादनात् कुर्यादस्य विराजतो गिरितटे सेवां विवेकी न कः ॥९॥

कर्मिभ्यः परितो हरेः प्रियतया व्यक्तिं ययुर्ज्ञानिन-स्तेभ्यो ज्ञानविमुक्त-भक्तिपरमाः प्रेमैकनिष्ठास्ततः ।
तेभ्यस्ताः पशुपालपङ्कजदृशस्ताभ्योऽपि सा राधिका प्रेष्ठा तद्वदियं तदीय-सरसीतां नाश्रयेत् कः कृती ॥१०॥

कृष्णस्योच्चैः प्रणयवसतिः प्रेयसीभ्योऽपि राधा कुण्डं चास्या मुनिभिरभितस्तादृगेव व्यधायि ।
यत् प्रेष्ठैरप्यलभसुलभं किं पुनर्भक्तिभाजां तत् प्रेमेदं सकृदपि सरः स्नातुराविष्करोति ॥११॥

अनुवादः—

वाणीका वेग, मनका वेग, क्रोधका वेग, जिह्वाका वेग, उदरका वेग और उपस्थ इन्द्रियका वेग—इन छः वेगोंको जो व्यक्ति दमन करनेमें समर्थ होता है, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर भी शासन कर सकता है ॥१॥

(किसी वस्तुका) अधिक संग्रह और संचय, प्राकृत विषयोंके लिये बहुतसे अधिक परिश्रम अथवा प्रयत्न, नियमके प्रति आवश्यकतासे अधिक आदर अथवा नियमका अपालन, कृष्ण विमुख लोगोंका संग और चित्तकी चंचलता अथवा चित्तका अव्यवस्थित भाव—इन छः दोषोंसे भक्ति नष्ट हो जाती है ॥२॥

भजनमें उत्साह, दृढ़-विश्वास या संकल्प, धैर्य, भजनमें सहायक कर्मोंका अनुष्ठान, आसक्ति और असत् संगका त्याग तथा सदाचारका सेवन—इन छः गुणोंसे भक्ति खिल उठती है ॥३॥

वस्तु और द्रव्यका आदान-प्रदान, गुप्तसे गुप्त बात निस्संकोच होकर कहना और पूछना, खाना और खिलाना—ये छः प्रीतिके लक्षण हैं ॥४॥

जिसकी वाणीमें अर्थात् जिह्वापर कृष्णनाम हो, (मध्यम अधिकारीको) उस पुरुषका मन-ही-मन आदर करना चाहिए। यदि उसे सद्गुरुसे दीक्षा प्राप्त हुई हो तो वैसे भगवद्भजनकारीको शरीरसे भी दण्ड-वत्-प्रणाम करना चाहिए। यदि वह श्रीकृष्णका अनन्य उपासक होनेके साथ निंदादिसे शून्य हृदयवाला हो—सर्वत्र समदर्शनसे युक्त हो तो श्रीकृष्ण-भजनमें चतुर उस महाभागवतके संगको अपना अभीष्ट संग जानकर शुश्रुषा द्वारा अर्थात् प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवासे भी उन्हें प्रसन्न करे ॥५॥

जगत्में अवस्थित शुद्धभक्तजनोंके शरीर और स्वाभावसे उत्पन्न हुए दोषोंको देखकर उनके प्रति (भक्तोंके प्रति) प्राकृत दृष्टि—मर्त्यबुद्धि कदापि न करो। बुद्बुद, फेन और पंक आदि जलके धर्मसे गंगाजल-की ब्रह्म-द्रवता नष्ट नहीं हो जाती ॥६॥

अहो ! जिनकी जिह्वाका स्वाद अविद्यारूपी पित्तसे बिगड़ा हुआ है, उन्हें कृष्णनाम एवं उनकी लीला आदिका गानरूप मिश्री भी मीठी नहीं लगती। परन्तु उसी मिश्रीका आदरपूर्वक (अप्राकृत बुद्धिके साथ) प्रति-दिन सेवन किया गया तो क्रमशः वह निश्चय ही मीठी लगने लगती है और पित्तका समूल नाश भी कर देती है ॥७॥

(साधु और शास्त्रोंके द्वारा दिये गये उपदेशोंके) क्रमानुसार श्रीकृष्णके नाम, रूप और चरितादिकोंके कीर्त्तन और स्मरणमें रसना और मनको लगा दे तथा श्रीकृष्णके प्रेमीजनोंका दास होकर व्रजमें निवास करते हुए अपने जीवनके सम्पूर्ण कालको बितावे—यही सारे उपदेशोंका सार है ॥८॥

श्रीकृष्णकी जन्मलीलाके प्रकाशहेतु मथुरापुरी नारायणके धाम वैकुण्ठकी अपेक्षा भी अधिक श्रेष्ठ है। रासोत्सवकी भूमि होनेके कारण वृन्दावन मथुराकी अपेक्षा भी अधिक वरणीय है। वृन्दावनमें भी उदारपाणि भगवान् श्रीकृष्णको विशेष आनन्द देनेके कारण गोवर्द्धनकी तरेटी और भी श्रेष्ठ है। गोवर्द्धनकी तरेटीमें भी भगवान् श्रीकृष्णको प्रेमामृतमें अवगाहन करानेके कारण राधाकुण्ड और भी वरेण्य हैं; अतः ऐसा कौन विवेकी पुरुष होगा, जो उक्त गोवर्द्धनकी तरेटीमें विराजमान श्रीराधाकुण्डका सेवन नहीं करेगा ॥९॥

(सत्त्वगुणका आश्रय करनेवाले) कर्मियोंकी अपेक्षा त्रिगुणयुक्त ज्ञानी श्रीकृष्णके विशेष प्रियरूपमें प्रसिद्ध हैं। उनकी अपेक्षा भी अभेदज्ञानसे रहित एकान्त भक्त या अप्राकृत शुद्ध भक्तजन अधिक प्रिय हैं। शुद्ध भक्तोंकी अपेक्षा भी श्रीकृष्णके अनन्य प्रेमी भक्तजन और भी विशेष प्रिय हैं। ऐसे प्रेमियोंकी अपेक्षा भी व्रजगोपीजन प्रियतर हैं और उनमें भी वे प्रसिद्ध श्रीराधिका तो श्रीकृष्णको सर्वापेक्षा प्रिय हैं। श्रीराधिकाजीका यह राधाकुण्ड उन्हीं श्रीराधिकाके समान ही श्रीकृष्णको प्रिय है। ऐसी दशामें ऐसा कौन भजन-विवेकी पुरुष है, जो इस राधाकुण्डका सेवन नहीं करेगा ? ॥१०॥

श्रीमती राधिकाजी श्रीकृष्णकी सब प्रेयसियोंकी अपेक्षा अधिक प्रेमपात्री हैं। उनके और उनके कुण्ड (राधा-कुण्ड) को मुनियोंने सब प्रकारसे एक समान श्रीकृष्णका सर्वोत्तम प्रेमपात्र माना है; क्योंकि जो कृष्ण-प्रेम—अनन्य भक्तों (साधन-भक्तों) की तो बात ही क्या, श्रीकृष्णके प्रेमियोंको भी अत्यन्त दुर्लभ है, श्रीराधाकुण्ड अपनेमें एकबार भी स्नान करनेवालोंके हृदयमें उस प्रेमको प्रकट कर देते हैं ॥११॥

बद्ध, तटस्थ और मुक्त

जीवकी तीन अवस्थाएँ हैं—बद्ध, तटस्थ और मुक्त। भगवान्‌में ये तीनों अवस्थाएँ अन्वय और व्यतिरेकरूपमें अवस्थित हैं। बद्धावस्थाकी सत्ता भी भगवान्‌से ही उत्पन्न होती है। यदि ऐसा न हो तो बद्धावस्थाकी स्थिति मिथ्या हो पड़ती है। मायावादी प्राकृत बद्धावस्थाको मिथ्या मानते हैं, परन्तु भगवान् श्रीचैतन्यदेवने इसे अनित्य नहीं—बल्कि नश्वर बतलाया है। जीव-सत्ताके ऊपर बद्धत्वका आरोप करना ही विवर्तवादका उदाहरण है, अर्थात् स्थूल देहमें आत्मबुद्धि करना ही विवर्त्तवाद है। दूसरे शब्दोंमें तत्त्ववस्तुके ज्ञानाभावको विवर्त्त कहते हैं।

भगवान् कभी बद्ध, तटस्थ अथवा मुक्त नहीं होते। किन्तु ये तीनों भाव भगवान्‌से निकले हैं। भगवान्‌की बहिरंगा शक्ति या मायाशक्ति परिणत होकर बद्ध जगत्‌की सृष्टि करती है; उनकी अन्तरंगा शक्ति परिणत होकर जड़ अर्थात् मायासे परे गोलोक (वैकुण्ठ जगत) का प्रकाश करती हैं; और अन्तरंगा एवं बहिरंगा शक्तियोंके बीचकी तटस्था शक्ति परिणत होकर असंख्य अणुचेतन—जीव प्रकाश करती है।

तटस्था शक्ति परिणत अणुचैतन्य जीव

अणु-चैतन्य जीव तटस्था शक्तिका परिणाम होनेके कारण गोलोकमें अवस्थित होनेपर अन्तरंगा शक्तिके आश्रित होता है। परन्तु जड़ जगत्‌में वह बहिरंगा या माया शक्तिके अधीन होता है। अणुचैतन्य जीव जड़ और चेतन दोनों ही जगतोंमें निवास

करनेके योग्य होता है। इसलिये वह तटस्था शक्तिका परिणाम कहा गया है। जिस प्रकार जल और भूमिके बीचमें स्थित गणितकी रेखाको तट कहते हैं, उसी प्रकार भगवान्‌की अन्तरंगा और बहिरंगा शक्तियोंके अनिर्वचनीय मध्यमें तटस्था शक्तिकी स्थिति है।

भगवान् शक्तिमान हैं

भगवान्—विभु-चैतन्य हैं। वे तटस्था शक्तिसे उत्पन्न नहीं होते हैं। प्रपंचमें अवतीर्ण होनेके समयमें भी वे तटस्था शक्ति-परिणत जीवोंकी तरह बद्धभाव प्राप्त नहीं होते; क्योंकि शक्ति, शक्तिमानके ऊपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकती है। श्रीजीव गोस्वामीने श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रचारित वेदान्तके अचिन्त्य-द्वैताद्वैतमत का निरूपण करते समय परतत्त्वको चार प्रकारके विशेषों द्वारा निर्देश किया है— (१) स्वरूप, (२) तद्रूप-वैभव, (३) जीव और (४) प्रधान। भगवत्ता ही स्वरूप-विग्रह है। गोलोक, वैकुण्ठ, पार्षद-वृन्द, और वहाँकी सब वस्तुएँ तद्रूप-वैभव-विग्रह हैं। जीव तटस्थ विग्रह हैं और अविद्या या माया ही प्रधान है। प्रधानका परिणाम बद्धभाव है, जीवका परिणाम तटस्थ भाव है, तद्रूप-वैभवका परिणाम मुक्तधाम वैकुण्ठ या गोलोक है।

भगवान् अन्वयभावसे तद्रूप-वैभवके रूपमें लक्षित होते हैं; व्यतिरेक भावसे जड़ जगत्‌की सृष्टि करते हैं तथा तट-प्रदेशमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों भावोंका युगपत् अस्तित्व प्रकाशकर जीवकी अस्मिता (अहं-भाव) का विधान करते हैं।

तटस्थ जीवोंकी बद्धावस्था क्यों ?

जीव तटस्थ-धर्मके कारण बद्ध या मुक्त कोई भी अवस्था ग्रहण करनेके योग्य होता है। प्रकृतिके अधीन होने पर वह प्रकृति द्वारा निर्मित स्थूल और लिंग शरीरोंको आत्मबुद्धि कर बद्ध होता है। जीव स्वरूपतः अपनी विशुद्धावस्थामें कृष्णका दास है; परन्तु कृष्ण-स्मृति खोकर जड़-जगत्‌में आकर अपनेमें कर्त्तापनका आरोपकर नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकता फिरता है। असत् सम्प्रदायके अनुसार जड़ोपाधि (अविद्या) का दूर होना ही जीवका मुक्त-स्वरूप है। ये मायावादीजन वैकुण्ठ या गोलोककी नित्यता स्वीकार नहीं करते। इसका मुख्य कारण उनकी बद्धावस्था ही है। ये लोग निर्विशेष अवस्थाको ही तटस्थावस्था कहते हैं तथा इसी अवस्थाको ये चरमावस्था मानते हैं। वस्तुतः निर्विशेषवादियों का यह विचार तटस्थधर्मका अस्फुट विकाश मात्र है।

मायावादी भ्रान्त क्यों ?

वेदान्तमतकी सविशेष व्याख्यामें स्पष्टरूपमें तटस्थधर्मका उल्लेख है। मायावादी निर्विशेषमतका अवलम्बन कर भगवान्‌का नित्यरूप और उनके अनंत ऐश्वर्यको प्रकाशित करनेवाली शक्तिको अस्वीकार करनेके कारण तद्रूप वैभवके नित्य अधिष्ठानकी धारणा करनेमें असमर्थ होते हैं।

मायावादी शक्तिमात्रको प्राकृत, हेय और काल द्वारा क्षुब्ध मानते हैं। अतः वे आत्म-वंचक हैं। नित्य-बद्ध मायावादी कभी भी नित्य मुक्त नहीं हो सकते हैं। इसलिये वे विवर्तवादका आश्रयकर अपनेको झूठमूठ ही जीवन-मुक्त कल्पना कर लेते हैं। यही नहीं, वे इस मिथ्या कल्पनाको सत्य मानकर अपने मतवादकी अकर्मण्यता भी प्रकाश करते हैं।

श्रीपाद रामानुजाचार्यने निर्विशेषमतका प्रबल युक्तियोंसे खण्डन किया है। इनमें दो प्रधान युक्तियाँ हैं। पहली युक्तिके अनुसार उनका कहना है कि निर्विशेषवादियोंके कल्पित मायावादके मूलमें तनिक भी सत्यता नहीं है। यदि मायावादी मिथ्याके हाथोंसे मुक्त हो चुके हों और यदि उनका विश्वास सत्य हो, तो उपदेशक और उपदेश ग्रहीतामें भेद ही नहीं रहा। ऐसी अवस्थामें उपदेशकी आवश्यकता ही क्या रही ? और कौन किसको उपदेश देगा ? दूसरी बात यह है कि निर्विशेषवादी जबतक स्वयं अपने प्रचारित सत्य तक न पहुँचे हों, तबतक उन्हें कतिपय निरी कल्पित बातोंके (मायावाद-सिद्धान्तके) उपदेश द्वारा सत्य निरूपणका अधिकार नहीं है। बद्ध और तटस्थ अवस्थामें स्थित जीव मुक्त राज्यके स्वरूपका परिचय

देनेमें समर्थ नहीं हो सकता है। यदि ऐसा करनेका दुस्साहस करे तो उसके द्वारा दिया गया मुक्तराज्यका परिचय सर्वथा भूल होता है अर्थात् वह निर्विशेषवाद ग्रहण कर अज्ञानतावश तटस्थावस्थाको ही मुक्तावस्था मान बैठता है। तटस्थ अवस्थामें निर्विशेषमत अवस्थित होता है मायावादी तटस्थ अवस्थाको पारकर अप्राकृत वैकुण्ठ जगत्में प्रवेश नहीं कर सकते। ऐसी दशामें उनका अहंकार मायाशक्ति द्वारा पुनः आच्छादित हो पड़ता है।

अचिन्त्यद्वैताद्वैतवाद और केवलाद्वैतवादमें भेद

आजकल मायावादी सम्प्रदाय भी श्रीमन्महाप्रभुकी विमल शिक्षाओंको अपनी चीज कहनेमें हिचकिचाते नहीं हैं। वास्तवमें मायावादियोंका केवलाद्वैत और श्रीमन्महाप्रभुका अचिन्त्यद्वैताद्वैतवाद एक नहीं है। अचिन्त्यद्वैताद्वैतवादमें जीवोंकी बद्ध, तटस्थ और मुक्त—ये तीनों अवस्थाएँ सत्य मानी गयी हैं। परन्तु केवलाद्वैतरूप मायावादमें बद्ध और तटस्थ अवस्थाओंकी नित्य सत्यता अस्वीकृत है। निर्विशेषवादी मुक्तावस्थामें अप्राकृत सविशेषवादकी बातें नहीं जानते, अथवा जानकरके भी सत्यकी हत्या करने का प्रयत्न करते हैं।

अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे चित् और जड़—दोनों जगतोंकी स्थिति

साधुजन कहते हैं कि भगवद् धाममें अप्राकृत सेवामें नियुक्त होनेका नाम ही मुक्ति है। परन्तु मायावादीजन तटस्थ लक्षणकी प्राप्तिको ही मुक्ति मानते हैं। मायावादियोंकी कल्पित निर्विशेष विधियोंको अचिन्त्य और अनन्त शक्तिमान भगवान् स्वीकार नहीं करते। वे अविचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे समस्त प्रकारके ऐश्वर्योंसे पूर्ण नित्यविराजमान अप्राकृत राज्यको अक्षुण्ण रखते हुए भी माया-शक्ति द्वारा जीवोंके बद्धसंसारको प्रकट करते हैं। जिस प्रकार जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—ये बद्ध जीवोंकी तीन अवस्थाएँ हैं, उसी प्रकार वैकुण्ठावस्था, तटस्थावस्था और बद्धावस्था—इन तीन अवस्थाओंकी प्राप्ति भी नित्य धर्म है।

—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती.

शरणागति

प्रतिकूल वर्जन—(वाचिक)

केशव ! तव जगत् विचित्र।
करम विपाके भववन भ्रमई, पेखलुँ रङ्ग बहु चित्र ॥
तव पद विस्मृति आ-मर यन्त्रणा, क्लेश-दहने दहि जाई।
कपिल, पतञ्जलि, गौतम, कणभौजी, जैमिनि, बौद्ध आवै धाई ॥
सब कोई निज मते, भुक्ति-मुक्ति याचत, पातइ नानाविध फाँद।
सो-सबु—वञ्चक, तुवा भक्ति-बहिर्मुख, घटावै विषम परमाद ॥
विमुख वंचने, भट सो सबु, निरमिल विविध पसार।
दण्डवत् दूरत, भकति विनोद भेल, भकत चरन करि सार ॥

तत्तत्कर्म-प्रवर्त्तन

श्रीलरूप गोस्वामीने भजन पिपासु व्यक्तियोंके लिये तत्तत्कर्म प्रवर्त्तनकी व्यवस्था की है। जिन-जिन कर्मोंसे भक्तिमें सहायता मिलती है—भक्तिका अनुशीलन होता है, उन कर्मोंको उन्होंने उपदेशामृतमें 'तत्तत्कर्म' बतलाया है। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण ने उद्धवसे कहा है—

श्रद्धामृत-कथायां मे शश्वन्मदनुकीर्त्तनम्।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
मय्यर्पणञ्च मनसः सर्वकाम-विवर्जनम्॥
मदर्थेऽर्थ-परित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्म निवेदिनाम्॥
मयिसञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥

(श्रीमद्भा० । ११ । १९ । २०-२४)

उद्धवजी! मैं तुम्हें अपनी प्रेम-भक्ति पानेका श्रेष्ठ उपाय बतलाता हूँ। सबसे पहले साधन भक्ति का अनुष्ठान करना चाहिए। इसीसे प्रेम भक्तिकी प्राप्ति होती है। साधन भक्तिके विषयमें श्रवण करो—जो मेरी प्रेम-भक्ति प्राप्त करना चाहता हो, वह मेरी अमृतमयी लीला-कथाओंमें श्रद्धा रक्खे, निरन्तर मेरे गुण, लीला और नामोंका संकीर्तन करे, मेरी पूजामें अत्यन्त निष्ठा रक्खे; स्तोत्रोंके द्वारा स्तुति करे, समस्त प्राणियोंमें मेरा ही सम्बन्ध दर्शन करे, मेरे लिए ही समस्त लौकिकी चेष्टा करे, वाणीसे मेरे ही गुणोंका गान करे, अथवा मन भी मुझे ही अर्पित कर दे, सारी कामनाओंको छोड़ दे, मेरे लिए धन और सुखका भोग त्याग दे, और जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत और तप किया जाय वह सब मेरे लिए ही करे। उद्धवजी! जो मनुष्य इन धर्मोंका पालन करते हैं और जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गयी, उसके लिये और किस दूसरी वस्तुका प्राप्त होना शेष रह जाता है?

भक्तिके ६४ प्रकारके अंग ही तत्तत्कर्म हैं

भगवान्‌के इस उपदेशका अवलम्बन करके श्रीरूप गोस्वामीने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु, नामक ग्रन्थमें इन कर्मोंको ६४ भागोंमें विभक्त किया है। इन ६४ अंगोंका वर्णन श्रीचैतन्यचरितामृतमें इस प्रकार किया गया है:—

(१) गुरुके चरणोंमें आश्रय ग्रहण करना, (२) उनसे दीक्षा प्राप्त करना, (३) गुरुकी सेवा, (४) जीवके सच्चे धर्मकी शिक्षा और जिज्ञासा, (५) साधुजनोंने जिस मार्गका अवलम्बन कर भगवान्‌को पाया है, उसी मार्गका अनुसरण, (६) कृष्णकी प्रीतिके लिये अपने भोग-विलासका परित्याग, (७) कृष्ण-तीर्थोंमें निवास, (८) जिससे जीवन निर्वाहमात्र हो जाय, उसी परिमाणमें कोई वस्तु ग्रहण, (९) एकादशी का उपवास, (१०) आँवला, अश्वत्थ, गो, विप्र और वैष्णवका सम्मान करना, (११) सेवा-अपराध और नामापराधसे दूर रहना, (१२) अवैष्णव-संग त्याग, (१३) बहु शिष्य न करना, (१४) अनेक ग्रन्थोंका आंशिक अध्ययन और व्याख्या आदिकी कलाका वर्जन, (१५) लाभ और हानिमें समबुद्धि, (१६) शोकादिके वशीभूत न होना, (१७) अन्य देवताओं या शास्त्रोंकी निन्दा न करना, (१८) विष्णु और वैष्णवोंकी निन्दा न सुनना, (१९) ग्राम्यकथा अर्थात् (विषय-भोगकी बातें न सुनना,) (२०) किसी भी प्राणीको शरीर, मन, और वाणीसे उद्वेग न देना, (२१) श्रवण, (२२) कीर्तन, (२३) स्मरण, (२४) पूजन (२५) वन्दन, (२६) परिचर्या, (१७) दास्य, (२८)

सख्य, (२९) आत्म-निवेदन, (३०) श्रीविग्रहके सामने नृत्य, (३१) गीत, (३२) विज्ञप्ति अर्थात् अपने भावों को भगवानके सन्मुख कहना, (३३) दण्डवत् प्रणाम, (३४) अभ्युत्थान अर्थात् भगवान या भक्त पधार रहे हों तो उठकर खड़ा होना या आगे बढ़कर सम्मान करना, (३५) अनुव्रज्या अर्थात् (भक्त या भगवान् यात्रा कर रहे हों तो पीछे-पीछे कुछ दूर तक जाना, (३६) तीर्थ और मन्दिरमें गमन, (३७) परिक्रमा, (३८)स्तव-पाठ, (३९) जप, (४०) संकीर्तन (४१) भगवानको निवेदित हुई माला, धूप और गन्ध ग्रहण, (४२) महाप्रसादका सेवन, (४३) भगवान्की आरती और उनके महोत्सवोंका दर्शन, (४४) श्रीमूर्ति दर्शन, (४५) अपनी प्यारी वस्तु भगवान्को अर्पण करना, (४६) ध्यान, (४७) तुलसीकी सेवा, (४८) वैष्णवोंकी सेवा, (४९) मथुरा आदि धाममें निवास, (५०) श्रीमद्भागवतका आस्वादन (५१) कृष्णके लिए ही अपनी सारी चेष्टाएँ करना, (५२) उनकी कृपाके लिए प्रतीक्षा, (५३) भक्तोंके साथ भगवानके जन्मके दिन महोत्सव मनाना, (५४) सब तरहसे शरणागति (५५) कार्तिक आदि व्रतोंका पालन करना, (५६) वैष्णव-चिह्न धारण, (५७) हरिनामके अक्षरोंको शरीर पर धारण करना, (५८) निर्माल्य धारण, (५९) चरणामृत पान, (६०) सत्-संग, (६१) नाम कीर्तन, (६१) श्रीमद्भागवतका श्रवण, (६३) मथुरामें वास, (६४) श्रद्धा पूर्वक श्रीमूर्तिकी सेवा।

(१) गुरुपादाश्रय

साधकका पहला कर्तव्य है—गुरु-पदाश्रय करना। गुरु-पदाश्रयके बिना कल्याण नहीं हो सकता है। मनुष्य दो प्रकारका होता है—अप्राप्त विवेक और प्राप्त-विवेक। सांसारिक सुखोंमें मत्त व्यक्तिको अप्राप्त-विवेक पुरुष कहा जाता है। यदि सौभाग्यसे लोगोंको सत्संग प्राप्त हो जाता है, तो उन्हें विवेक प्राप्त हो सकता है। तब उसके हृदयमें ऐसी भावनाएँ उठती हैं कि हाय! हाय!! मैं बड़ा ही मन्द-भाग्य हूँ, मैं सर्वदा विषय भोगोंमें ही मत्त हूँ, मेरा अब तक का सारा जीवन पशु-जीवनमें ही कट गया अब मैं क्या करूँ ? जिस महात्माके संगसे ऐसे विचार पैदा होते हैं, उस महात्माके संगको श्रवण-गुरुका संग कहते हैं। इसी समय सौभाग्यसे श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा होनेसे भजन करनेकी इच्छा पैदा होती है। उस समय गुरु-पदाश्रय करना अत्यन्त आवश्यक है। अतएव अप्राप्त-विवेक वाले व्यक्ति सौभाग्यसे प्राप्त-विवेक होकर श्रीगुरुदेवके चरणोंमें आश्रय ग्रहण करते हैं।

गुरु कौन हैं ?

"कैसे गुरुका आश्रय करना उचित है ?"— यह विचारणीय प्रश्न है। जिन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मात्सर्य—इन षड् रिपुओंको जीत लिया है, जिनको कृष्णके प्रति स्वाभाविक अनुराग उत्पन्न हो गया है, जो वेद-वेदान्त-उपनिषद्-पुराण आदि शास्त्रोंके पारङ्गत हैं, साधुजन गुरु मान कर जिनके प्रति श्रद्धा कर सकें, इन्द्रियाँ जिनके वशमें हो, जो समस्त प्राणियोंके प्रति दयाका भाव रखते हों, जो शान्त, निष्कपट और सत्यवादी हों, ऐसे व्यक्ति गुरु होनेके योग्य हैं। यह सब गुण दो प्रकारसे विवेचित होते हैं। कृष्णके प्रति अनुराग ही (इतर रागसे रहित) गुरुदेवका स्वरूप गुण है। बाकी सभी तटस्थ गुण हैं। इसीलिये श्रीमन्महाप्रभुजीने कहा है—

> किंवा विप्र, किंवा न्यासी, शूद्र केने नय।
> येई कृष्ण-तत्त्ववेता सेई गुरु हय॥

—विप्र हो, अथवा संन्यासी हो या शूद्र भी क्यों न हो, यदि वह कृष्ण-तत्त्वका ज्ञाता है, तो वही गुरु है।

जिनमें यह स्वरूप लक्षण विद्यमान है, उनमें दो-एक तटस्थ लक्षण न भी रहें तो कोई हर्ज नहीं, वे गुरु होनेके योग्य हैं। ब्राह्मणत्व और गृहस्थत्व—ये दोनों तटस्थ लक्षण हैं। तात्पर्य यह कि कृष्ण'तत्त्वके ज्ञाता अर्थात् प्रेमी-भक्तमें यदि ब्राह्मणत्व और गृहस्थत्व दोनों तटस्थ लक्षण रहें तो अच्छा ही है।

किन्तु कोई व्यक्ति ब्राह्मण भी है, और गृहस्थ भी है, किन्तु उसमें कृष्ण अनुराग—कृष्णतत्त्व रूप मुख्य लक्षणका अभाव है, तो वह गुरु होनेके योग्य नहीं है—

महाभागवत श्रेष्ठो ब्राह्मणो वै गुरुर्नृणाम् ।
सर्वेषामेव लोकानामसौ पूज्यो यथा हरिः ॥
महाकुल-प्रसूतोऽपि सर्वयज्ञेषु दीक्षितः ।
सहस्र-शाखाध्यायी च न गुरुः स्याद्वैष्णवः ॥

(२-३) गुरु-सेवा तथा दीक्षा ग्रहण करनेकी आवश्यकता

उपयुक्त गुरु मिलने पर श्रद्धालु शिष्यको निष्कपट होकर दृढ़ विश्वासपूर्वक गुरुकी सेवा करनी चाहिए। गुरुदेवको प्रसन्न कर उनसे श्रीकृष्ण-मंत्र और दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। जो लोग दीक्षाके विरोधी हैं तथा केवल बनावटी कीर्तन आदिका ढोंग दिखा कर अपनेको वैष्णव कह कर प्रचार करते हैं, वे नितान्त ही आत्म-वंचक हैं। जड़ भरत आदि कुछ लोगोंके चरित्रमें दीक्षाका प्रसंग न देख कर विषयी लोगोंको दीक्षाकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। प्रत्येक जन्ममें जीवोंको दीक्षा ग्रहण करने की विधि है। यदि किसी सिद्ध महापुरुषके जीवनमें दीक्षा ग्रहणकी बात न देखी जाय तो उसे अपना आदर्श नहीं मान लेना चाहिए। उन महापुरुषोंने किसी विशेष अवस्थामें ऐसा आदर्श दिखलाया है; इसलिए वह साधारण विधि नहीं मानी जा सकती। ध्रुव इसी पार्थिव शरीरसे ध्रुवलोकमें पधारे थे; क्या ऐसा देख कर सभी लोग उन्हींके समान अपने पार्थिव शरीरसे ही ध्रुव लोक जानेकी आशामें बैठे रहेंगे? जड़ शरीरको छोड़ कर चिन्मय शरीरसे ही जीव वैकुण्ठमें गमन करते हैं—यही साधारण विधि है। साधारण लोगोंके लिये साधारण विधिका अनुसरण करना ही कल्याण प्रद होता है। अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न भगवान् जब जैसी इच्छा करते हैं, तब तैसा ही होता है। अतएव हमें साधारण विधियों का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। बल्कि श्रीगुरुदेव को अपनी निष्कपट सेवासे प्रसन्न कर उनसे भगवन्नाम-मंत्रादि दीक्षा और तत्त्वकी शिक्षा अवश्य ही ग्रहण करनी चाहिए।

(४) साधुओंके मार्गका अनुगमन

सौभाग्यवान् शिष्य सद्गुरुसे दीक्षा और शिक्षा प्राप्त कर साधुजनोंके मार्गका अनुसरण करेंगे। दांभिक व्यक्ति ही महाजनोंकी अवज्ञा कर स्वयं नये-नये मतोंकी सृष्टि करते हैं। फल यह होता है कि थोड़े दिनोंमें कुपथमें चलकर अपना सर्वनाश कर डालते हैं। स्कन्द पुराणका कथन है—

स मृग्यः श्रेयसां हेतुः पन्थाः सन्ताप-वर्जितः ।
अनवाप्त-श्रमं पूर्वे येन सन्तः प्रतस्थिरे ॥

साधुजन अब तक जिस सनातन पथ पर आरूढ़ होते रहे हैं, वही पथ हमारे लिये श्रेय है। महाजनोंके पथका अनुशीलन करनेसे दृढ़ता, साहस और सन्तोष उदित होते हैं। जब हम लोग श्रीरूप, सनातन, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी और हरिदास ठाकुरके भजन-पथका अनुगमन करते हैं, तब हमें इतना आनन्द होता है, जो वर्णनातीत है। जब हरिदास ठाकुरको दुष्ट मुसलमान हरिनाम त्याग करनेके लिये पीट रहे थे, उस समय उन्होंने क्या कहा था—'मेरे शरीरके भले ही टुकड़े-टुकड़े हो जाँय, मेरे प्राण भले ही चले जाँय—मैं हरिनाम नहीं छोड़ सकता और नहीं छोड़ सकता। हे कृष्ण! मुझे मारने वाले इन भूले-भटके जीवोंका तनिक भी अपराध नहीं है, इन्हें क्षमा करो, इन पर दया करो।'

इस प्रकार दृढ़ताके साथ समस्त प्राणियों पर दया रखते हुए निरन्तर हरिनाम ग्रहण करना ही पूर्व महाजनोंका भजन-पथ है। पथ नया नहीं होता। जो पथ पहलेसे है, साधुजन उसी परिचित मार्गका अवलम्बन करते हैं। किन्तु दांभिक और प्रतिष्ठाकामी व्यक्ति नये-नये पथ आविष्कार करनेके लिये ही अधिक प्रयत्न करते हैं। बड़े सौभाग्यसे किसी-किसीको पूर्व-महाजनोंके पथमें श्रद्धा होती है। श्रद्धा

होने पर अपनी दांभिकताका परित्याग कर उस पर चलना आरम्भ कर देते हैं। परन्तु जो मन्द भाग्य हैं, वे स्वकपोल-कल्पित मार्ग रचकर स्वयंको और दूसरों को वंचित करते हैं। शास्त्रोंमें इनके प्रति निम्न प्रकार से सावधान किया गया है—

श्रुति-स्मृति-पुराणादि-पञ्चरात्र-विधिं विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥
भक्तिरैकान्तिकीयेयमविचारात् प्रतीयते।
वस्तु तस्तु तथा नैव यदशास्त्रीयतेच्यते॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

तात्पर्य यह कि भक्ति-पथ—'वैधी' और 'रागानुगा' दो प्रकारका है। महाजनोंने निज निज अधिकारके अनुसार इन दोनोंका आचरण किया है। इन दोनों भक्ति-पथोंका वर्णन श्रुति, स्मृति और पंचरात्रादि ग्रन्थोंमें भरा पड़ा है। परन्तु इन ग्रन्थोंके प्रदर्शित भक्ति-पथको छोड़ कर 'बुद्ध' और 'दत्तात्रेय' आदिने जिन नवीन मार्गोंका आविष्कार किया, वे सब मार्ग अन्त तक केवल उत्पातके ही कारणके रूपमें बच रहे हैं। यद्यपि इन नवीन पथोंके यात्री इन नवीन पथोंको ऐकान्तिकी हरिभक्ति होनाका दावा रखते हैं, परन्तु वास्तवमें यह उनकी अज्ञताका द्योतक हैं। वेद आदि शास्त्रों द्वारा निर्धारित पथ ही एकमात्र सत्य-पथ है। आजकल ऐसे-ऐसे अनेक नवीन मत निकलते हैं और अन्तमें अपने आचार्यके साथ लुप्त हो जाते हैं।

५—सद्धर्मकी जिज्ञासा

सच्चे शिष्य द्वारा धर्मकी जिज्ञासा एक भक्ति-जनक कर्म है। अतएव नारद पुराणका कथन है—

अचिरादेव सर्वार्थः सिद्ध्येयामभीप्सितः।
सद्धर्मस्यावबोधाय येषां निर्बन्धिनी मतिः॥

सौभाग्यवान् पुरुष जिस प्रकार साधुजनोंके आचरणका अनुसरण करना चाहते हैं, उसी प्रकार उनका धर्म भी जानना चाहते हैं। परन्तु दुर्भागा व्यक्ति इनके ठीक विपरीत आचरण करते हैं। ये लोग जिस प्रकार साधु-पथसे पृथक् नये-नये पथोंका अनुसंधान करते हैं, उसी प्रकार साधुजनोंके निर्धारित सिद्धान्तोंका अनादर कर अपना-अपना सिद्धान्त भी चलाते हैं। ये लोग श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाओंको समझनेका प्रयत्न नहीं करते, बल्कि उनके विरुद्ध मतको स्वीकार कर उसका प्रचार करते हैं। वे इस बातको समझते नहीं कि उनके उस कुप्रचारका कैसा भयंकर परिणाम होता है। सच्चे शिष्य सद्धर्मको जाननेके लिये विशेष प्रयत्न करते हैं। यदि वे स्वयं समझनेमें असमर्थ होते हैं तो शिक्षागुरुसे श्रद्धापूर्वक जिज्ञासा द्वारा समझ लेते हैं। ऐसे लोगोंको शीघ्र ही साधनमें सफलता प्राप्त होती है।

सद्धर्म किसे कहते हैं ?

अन्याभिलाषिता-शून्य ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

—कृष्ण-सेवाके अतिरिक्त लौकिक अथवा स्वर्गीय सुखरूप अन्याभिलाषासे रहित, कर्म और ज्ञान आदिके अवरणसे मुक्त, कृष्णकी अनुकूल-सेवाको उत्तमा-भक्ति कहते हैं।

जिज्ञासुके हृदयमें जबतक उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त शुद्ध-भक्ति-रूप सद्धर्मका उदय नहीं होता, तबतक उसका हृदय अन्धकारसे ढका रहता है। ऐसी दशामें, शुद्ध भक्ति किसे कहते हैं—वे समझ नहीं पाते। अपने उच्छृङ्खल विचारों पर निर्भर रहनेसे शुद्ध-भक्ति कदापि उदित नहीं हो सकती। अधिकांश व्यक्ति ऐसा सोचते हैं कि अपनी बुद्धि और विद्याके बल पर उन्होंने भक्तिका स्वरूप समझ लिया है। परन्तु वास्तवमें उनमेंसे कुछ लोगोंने ज्ञान-मिश्रा भक्तिको और कुछ लोगोंने कर्म-ज्ञान उभय-मिश्रा भक्तिको ही शुद्ध भक्ति समझ रखा है। वे इतने दांभिक होते हैं कि वे श्रीचैतन्यचरितामृतका अर्थ सुनकर ऐसा मन्तव्य प्रकाश करते हैं—'अपने-अपने मतसे सभी लोग अच्छा अर्थ करते हैं; चैतन्य-चरितामृतका ही अर्थ माननेकी आवश्यकता क्या है ? हम मत-मतान्तरोंके पचड़ेमें नहीं पड़ना चाहते। स्वतन्त्र अर्थ ही ठीक होता है।' ऐसे लोगोंका सद्धर्मके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। फलस्वरूप अपनी नयी

प्रणालीके अनुसार भजन करके वे कभी भी शुद्ध भक्तिका रसास्वादन नहीं कर पाते ।

६—कृष्ण प्रीतिके लिये भोग-त्याग

भक्ति साधकका कर्त्तव्य है कि वह श्रीकृष्णके उद्देश्यसे अपने समस्त प्रकारके भोगोंका परित्याग करे । इन्द्रिय-सुखोंके ग्रहणको भोग कहते हैं । हमारी इन्द्रियाँ जिन-जिन विषयोंका भोग करना चाहती हैं—हमें जो पदार्थ अत्यन्त प्रिय हैं, उन्हें कृष्ण-अर्पण कर, प्रसादके रूपमें उन्हें जीवन-निर्वाहके लिये आवश्यकतानुसार ग्रहण करें ।

७—तीर्थ-वास

कृष्ण-तीर्थोंमें वास करना—एक साधनाङ्ग है । द्वारका, मथुरा, वृन्दावन, गङ्गातट, जमुनातट और श्रीचैतन्य महाप्रभुकी लीला-स्थलियोंमें निवास करनेसे कृष्ण-स्मृति सदैव नवीन बनी रहती है । साधकको इससे अधिक और चाहिये ही क्या ?

८—यथायोग्य-परिग्रह

भक्तिके अनुकूल व्यावहारिक कार्योंके द्वारा जीविका निर्वाहोपयोगी अर्थका उपार्जन करना चाहिये। आवश्यकतासे अधिककी आशा करनेसे भक्ति अन्तर्हित हो जाती है । आवश्यकतासे कम अर्थ स्वीकार करनेसे जीविका-निर्वाहमें कठिनाईयाँ पैदा होनेसे साधन दुर्बल हो पड़ता है ।

९—एकादशी पालन

एकादशीका यत्नपूर्वक पालन करना चाहिये। १५ दिनोंमें एक दिन एकादशी तिथिको समस्त प्रकारके भोगोंका परित्यागकर, भजन करनेसे निरन्तर भजनका अभ्यास होता है ।

१०—तुलसी आदिका सेवन

आँवला, अश्वत्थ, तुलसी, गौ, ब्राह्मण और वैष्णव—इनकी पूजा करनेसे मनुष्यके सारे पाप धुल जाते हैं । इससे भगवान्‌की कृपा लाभ होती है ।

उपर्युक्त दस अन्वय विधियोंके पालनकी आवश्यकता

उक्त दस प्रकारके भक्तिके अङ्ग हरि भजनके प्रारम्भिक कार्य हैं । जो लोग प्रारम्भमें ही इन अङ्गोंकी अवहेलना करते हैं, उनका भजन और भगवत्प्राप्ति कठिन है ।

अतएव साधकको सबसे पहले गुरुपदाश्रय करके उनसे दीक्षा और शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये । साथ-ही-साथ गुरुसेवा भी करनी चाहिये । साधुजनोंके चरित्रका अनुसरण और उनके सिद्धान्तोंकी शिक्षा-ग्रहण करनी चाहिये । जीवनको कृष्णमय करनेके लिये कृष्ण-तीर्थमें निवास कर कृष्ण-उद्देश्यसे अपने समस्त भोगोंका परित्याग करना चाहिये । व्यवहारिक कार्योंके द्वारा भक्तिके अनुकूल संसारके निर्वाहोपयोगी अर्थ उपार्जन या संग्रह करना चाहिये । भक्तिके लिये एकादशी और जयन्ती (जन्माष्टमी) आदिका विधिवत् पालन करना चाहिये । तुलसी और वैष्णव आदि तदीय वस्तुओंका सम्मान करना चाहिये । इस प्रकार ये दस अन्वय विधियाँ अवश्य पालनीय है । इनके साथ निम्नलिखित दस प्रकारकी व्यतिरेक विधियोंका पालन नहीं करनेसे भक्तिका साधन स्थिर नहीं रह सकता ।

(क्रमशः)

—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्ति विनोद ठाकुर

गीताकी वाणी

पन्द्रहवां अध्याय

शुद्ध जीव अनादि भोग-वासनाओंके कारण कर्मोंके बन्धनमें पड़कर संसार-दशाको प्राप्त होता है। इस अध्यायमें संसारका स्वरूप, जीवका स्वरूप और भगवान् पुरुषोत्तमका स्वरूप बतलाकर संसार वृक्षको छेदन करनेका उपाय बतलाया गया है। यहाँ भगवान् संसारका स्वरूप वर्णन कर रहे हैं—कर्म द्वारा निर्मित यह संसार अश्वत्थवृक्ष-विशेष है। दीर्घजीवी होनेके कारण इस वृक्षसे ही संसारकी तुलना दी गयी है। अश्वत्थका दूसरा अर्थ है—न श्वः स्थास्यति इति अश्वत्थः। अर्थात् अगले कल तक जो ठहरता नहीं है, उसे अश्वत्थ कहते हैं। संसार अनित्य है, तथापि इसका नाश नहीं है। जितने दिनों तक जीवोंमें भोगकी वासना वर्त्तमान रहती है, उतने दिनों तक कर्मके प्रभावसे उनका संसार भी वर्त्तमान रहता है। इसीलिये इसे अव्यय बतलाया गया है। कर्माश्रित व्यक्तियोंके लिये इसका नाश नहीं है। कर्म-प्रतिपादक वेद-वाक्य-समूह इस विराट वृक्षके पत्ते हैं। यथा—'स्वर्गाय अश्वमेधं यजेत,' 'वायव्यां श्वेतमालभेत,' 'अक्षयं ह वै चातुर्मास्य-याजिनः' अर्थात् स्वर्गकी प्राप्तिके लिये अश्मेध यज्ञ करना चाहिये, उसको ही यज्ञमें बलि देनी चाहिए, चातुर्मास्य-व्रतका पालन करनेवालोंको अक्षय फलकी प्राप्ति होती है—ये वेद-वाक्य भोगके समर्थक-वाक्य हैं। वेदोंके इन मधुपुष्पित—लोभनीय वचनोंके प्रति आकृष्ट व्यक्ति कर्म-शृंखलमें बँध जाते हैं। इस अश्वत्थ वृक्षकी जड़ ऊपरकी ओर और शाखाएँ नीचेकी ओर फैली हुई हैं। ऊपर सत्यलोकमें 'प्रधान' रूप बीजसे उत्पन्न प्रथम उत्पत्तिरूप महत्तत्त्वात्मक चतुर्मुख ब्रह्माके निकट इस वृक्षकी जड़ है। वहाँसे क्रमशः स्वर्ग, अन्तरीक्ष, और मनुष्यलोकोंमें देव, गन्धर्व किन्नर, यक्ष, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, स्थावर आदि नाना प्रकारके शरीरोंके रूपमें भिन्न-भिन्न दिशाओंमें इसकी शाखाएँ फैली हुई हैं। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—यह चतुर्वर्ग इस वृक्षका फल है। इसमें भक्ति-प्राप्ति रूप विवेकका अभाव होता है, इसलिये यह वृक्ष अव्यय कहा गया है। जो इस वृक्षकी नश्वरता तथा इसको छेदन करनेका उपाय जान लेते हैं, वे ही वेदज्ञ पुरुष हैं। इस वृक्षकी कुछ शाखाएँ तमोगुणका आश्रयकर नीच योनियोंमें, कुछ रजोगुणका आश्रयकर मर्त्यलोकमें मनुष्यके रूपमें और कुछ सत्त्वगुणका आश्रयकर ऊपरकी ओर स्वर्गमें देव-योनिके रूपमें फैली हुई हैं। प्रकृतिके तीनों गुण ही जल है, जिससे ये समस्त शाखाएँ सींची जाकर पुष्ट होती हैं। जड़ीय विषय-समूह इस वृक्षकी कोंपलें हैं। जिस प्रकार वृक्षकी कोंपलें अत्यन्त मनोहर और सुकोमल होती हैं, उसी प्रकार संसार-वृक्षकी कोंपलें—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दादि विषय चित्तको आकर्षण कर लेते हैं। इस वृक्षकी कुछ अवान्तर जड़ें नीचेकी ओर (मनुष्य लोक) में भी फैली हुई हैं, ठीक वैसे ही जैसे वट वृक्षकी शाखाओंसे निकलकर कुछ आगन्तुक जड़ें (वट वृक्षकी जटाएँ) नीचेकी ओर झूलती रहती है। जिस प्रकार ये आगन्तुक जड़ें जमीनमें प्रवेश कर वृक्षको अधिकतर मजबूत बनाती हैं, उसी प्रकार विषय-भोग द्वारा उत्पन्न राग-द्वेष आदि वासनाएँ संसार वृक्षको अधिकतर दृढ़ बना देती हैं। मनुष्यलोक कर्मभूमि है। इस कर्म-भूमिमें मनुष्य योनिमें किये गये कर्मोंके अनुसार ही उच्च अथवा नीच योनियोंमें जन्म होता है—पुनः पुनः जन्म-मरणके चक्करमें पड़ता है। इस

वृक्षका स्वरूप—आदि-अन्त यहाँ नहीं जाना जाता है। इस दृढ़तापूर्वक जमी हुई जड़वाले वृक्षको असङ्गरूपी शस्त्रसे काट कर उसी आदि पुरुष भगवान्‌की शरण ग्रहण करनी चाहिए, जिससे यह अनादि संसार-प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है। उस भगवान्‌के परमपदको प्राप्त होने पर संसारमें पुनः लौटकर आना नहीं पड़ता।

अब उपर्युक्त प्रकारसे परमपद स्वरूप भगवान्‌की शरण लेकर उसको प्राप्त होनेवाले पुरुषोंके लक्षण बतलाते हैं—जिनका मान और मोह नष्ट हो चुका है, जिन्होंने सङ्गदोषको अर्थात् आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जो सर्वदा अध्यात्म-तत्त्वके अनुशीलनमें निरत रहते हैं, जिनकी कामनाएँ सम्पूर्ण रूपसे नष्ट हो गयी हैं--वे सुख-दुख रूप द्वन्द्व-धर्मसे मुक्त शरणागत व्यक्ति ही उस अविनाशी परम-पदको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌का वह परमपद अर्थात् परम-धाम स्वयं-प्रकाश वस्तु है, उसे न तो सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही। अभिप्राय यह कि समस्त संसारको प्रकाशित करनेवाले सूर्य, चन्द्र और अग्नि उस ज्योतिर्मय वस्तुसे ही प्रकाशित होकर जगतको अलोकित करते हैं। इनमें स्वतंत्र अपना कोई प्रकाश नहीं अथवा अन्यको प्रकाशित करनेकी शक्ति नहीं। फिर स्वयं-प्रकाश वस्तुको ये कैसे प्रकाशित कर सकते हैं?

जिज्ञासा होती है कि जीवका स्वरूप क्या है? और उसके इस प्रकार संसार बन्धनका हेतु क्या है? भगवान् इनका स्पष्टीकरण करते हुए बतला रहे हैं कि--इस शरीरमें रहनेवाला जीव भगवान्‌का विभिन्नांश तत्त्व है, जो प्रकृतिमें स्थित मन तथा चक्षु, कर्ण, नासिका, रसना, और त्वचा इन पंच इंद्रियोंको अपना मान कर इन सबको अपने साथ ढोता फिरता है। जिस प्रकार वायु पुष्पकोषसे गन्धको ग्रहणकर दूसरी जगह ले जाता है, उसी प्रकार भोगाशक्त जीव जिस शरीरका त्याग करता है, उससे उसके कर्मफलों, वासनाओं तथा इन्द्रियोंको ग्रहणकरके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें ले जाता है। और स्थूल शरीरको प्राप्त होकर चक्षु, कर्ण, नासा, रसना और त्वचा इन पाँच इन्द्रियोंके द्वारा मनकी सहायतासे रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्शादि विषयोंका सेवन करता है। शरीरको छोड़कर जाते हुएको, शरीरमें स्थित हुएको अथवा विषयों को भोगते हुएको इस प्रकार तीनों गुणोंसे युक्त हुएको (आत्माको) मूढ़ व्यक्ति अनुभव करनमें असमर्थ होते हैं, किन्तु विवेकी पुरुष ज्ञानरूप नेत्रों से इसका स्वरूप दर्शन कर सकते हैं। इसीलिये वे संसारमें आसक्त नहीं होते। यत्न करनेवाले योगी-जन भी श्रवण और कीर्त्तन आदि साधनोंके द्वारा इस शरीरमें आत्माका अनुभव कर सकते है, किन्तु जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अविवेकी पुरुष तो यत्न करते रहने पर भी इस आत्माको नहीं जान पाते। स्थितप्रज्ञ हुए बिना चित्तको वशीभूत करना असम्भव है।

अब शंका यह होती है कि इस जड़ जगतमें चित्-तत्त्व अनुशीलन कैसे सम्भव हो सकता है। भगवान् इसका उत्तर देते है--सूर्य, चन्द्र और अग्निमें जो जगत् प्रकाशक तेज दिखलाई पड़ता है, वह भगवान्‌का ही तेज है। भगवान् ही पृथ्वीमें प्रवेशकर अपनी शक्तिसे सब प्राणियोंको धारण करते हैं—वे ही चन्द्रके रूपमें समस्त औषधियोंको पुष्ट करते हैं—तथा प्राणियोंके शरीरमें जठराग्नि होकर प्राण और अपान वायुके संयोगसे भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चूष्य--इन चार प्रकारके भोजनको पचाते हैं। वे ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीके रूप अवस्थित हैं, तथा उनसे ही जीवोंके कर्मानुसार स्मृति और ज्ञान उत्पन्न होते हैं तथा स्मृति और ज्ञान नष्ट भी होते हैं। उन्होंने जीवोंके नित्य कल्याणके लिए वेद और वेदान्तादि शास्त्र प्रकाश किये हैं तथा वे ही वेदवेद्य और वेदज्ञ भी हैं।

जीव दो प्रकारके होते हैं-क्षर और अक्षर। सब बद्ध जीवोंको क्षर अर्थात् क्षर पुरुष और सर्वदा एकावस्था-युक्त मुक्त जीवोंको अक्षर अर्थात् अक्षर पुरुष कहते हैं। उन दोनोंसे परे ईश्वर ही उत्तम

पुरुष हैं, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करते हैं। क्षर और अक्षर जीवोंसे परे और उत्तम होनेके कारण उनको 'पुरुषोत्तम' भी कहा गया है। इसलिये जीवोंको कभी भी 'पुरुषोत्तम' नहीं कहा जा सकता है। ब्रह्मवादियोंका विचार यहाँ पर सम्पूर्ण नीरव अर्थात् निरुत्तर है। जो लोग ब्रह्मवाद और वैसे वैसे वादोंसे मुग्ध नहीं होते, वे ही सच्चिदानन्द पुरुषोत्तमको जान सकते हैं। वे ही सर्वज्ञ होते हैं, तथा दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरादि सर्व प्रकारके भावोंसे भगवान्‌का भजन करनेमें समर्थ होते हैं।

यह पुरुषोत्तम योग ही गुह्यतम योग है। इसे जानकर बुद्धिमान जीव कृत-कृत्य हो जाता है। संसारके प्रति आसक्तिका परित्याग करके साधुसङ्गमें भगवत् तत्त्वका ज्ञान लाभ करने पर जीवोंका ऐसा सौभाग्य प्राप्त होता है।

—त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

श्रीरामानुजाचार्यके उपदेश

प्रातःकाल बिछौनेसे उठकर गुरु-परम्पराकी महिमायुक्त नामावलीका कीर्तन करो। नित्य-क्रियाके बाद शक्तिके अनुसार गुरु-वर्गकी तथा भगवान्‌की सेवा-पूजा करो। गुरुजनोंके निकटसे हठात् उठकर चला जाना महाअपराधजनक है। यदि कोई वैष्णव तुम्हारे पास आ रहे हों तो तुम आगे बढ़कर उनकी अभ्यर्थना करना न भूलो। और लौटते समय कुछ दूर तक उनका अनुगमन भी अवश्य करो। ऐसा न करनेसे अपराध होता है।

वैष्णवोंके अधीन रहकर उनकी सेवाके द्वारा अपना जीवन निर्वाह करो। अवैष्णव व्यक्तियोंकी सेवा करनेसे, उनका संग करनेसे, उनके घर आने-जानेसे अथवा जीविकाके लिये उनपर निर्भर रहनेसे अत्यन्त शीघ्र ही तुम्हारा पतन हो जायगा। भगवत् मन्दिर अथवा उसका चूड़ा जहाँ कहीं से भी दिखाई पड़े, भक्तिपूर्वक हाथ जोड़कर प्रणाम करो। वैष्णवोंकी छाया कदापि लंघन न करो।

यदि कोई निम्नाधिकारी वैष्णव तुमको पहले अभिवादन करें, तो तुम कभी भी उनकी उपेक्षा न करो। किसीकी निंदा न करो। किसी वैष्णवके अधिक निद्रालु स्वभाव, अलसता और नीच कुलमें जन्म आदि दोषोंको जानकरके भी दूसरोंको न बतलाओ। उनके दोषोंको गुप्त रखकर उनके गुणोंको ही व्यक्त करो। जो 'तत्त्व-त्रय' और 'उनका-रहस्य' नहीं जानते, उनका चरणोदक पान न करो। अपनेको वैष्णवोंके बराबर न समझो।

भक्त और भगवान्‌की सेवाके अतिरिक्त दूसरी-दूसरी इतर अभिलाषाओंसे रहित भगवत्तत्त्वविद् तथा भक्तिधनसे युक्त महाजनोंको देहधारी परमात्माके समान मानकर उनकी सब प्रकारसे सेवा करो। जन्म या अन्य किसी भी प्राकृत दृष्टिकोणसे उनका दर्शन न करो। बल्कि ऐसा सोचकर कि—वे मेरा कल्याण करनेके लिये ही मेरे पास आये हैं—उनकी श्रद्धापूर्वक सेवा करो और उनसे आत्म-कल्याणकी बातें जिज्ञासा करो। भगवत् सान्निध्यसे पवित्र हुए तीर्थोंमें भगवत्-प्रसाद ग्रहण करनेमें आगा-पीछा न करो। विश्वासहीन व्यक्तियोंके सामने भी उनके सेवनमें कोई दोष नहीं है। भगवत्प्रसाद परम पवित्र वस्तु है। उसका सेवन करनेसे समस्त प्रकारके अनर्थ दूर हो जाते हैं। 'इसे अमुक व्यक्तिने निवेदन किया है, इसलिये यह विशुद्ध प्रसाद नहीं है—ऐसा भूलकर भी न सोचो।

वैष्णवोंके सामने अपनी प्रसंशा न करो अथवा किसीको लज्जित न करो। सर्वदा गुरुदेव और

वैष्णवोंकी सेवामें नियुक्त रहो। प्रतिदिन नियमित रूपमें कुछ समय तक महाजनों अथवा अपने गुरुदेवके द्वारा लिखे गये पारमार्थिक विषयोंका श्रद्धापूर्वक पाठ करो। देहात्मबुद्धि तथा अन्यासक्तिका परित्याग करो। कुसङ्गसे सर्वदा दूर रहो। वैष्णववेशधारी कपट व्यक्तियोंसे बचो। सन्तोंकी निंदा करनेवाले लोगोंके साथ वार्त्तालाप न करो। असत्संगके दोषोंको सत्संगरूपी निर्मल जलसे धो डालो। गुरुदेवकी निंदा करनेवाले मनुष्य-शरीरमें विचरण करनेवाले बाघोंके प्रति दृष्टिपात तक न करो। जो लोग शरणागतिके अतिरिक्त अन्यान्य उपायोंसे मुक्ति प्राप्त करने का उपदेश करते हैं, उनका सङ्ग न करो, आदर्श शरणागतिका जीवन बितानेवाले सन्तोंके साथ निरन्तर निवास करो।

यदि तुम्हें ऐसा भान हो रहा हो कि अमुक वैष्णवने मेरा अपकार किया है, तो उसके प्रति द्वेषभाव न रख कर अपनेको संयत रखो। यदि तुम भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हो, तो वैष्णवोंकी निरन्तर सेवा करो। उत्तम कुलमें पैदा हुए सदाचार सम्पन्न व्यक्तिका अन्न ग्रहण करना चाहिए। शास्त्रविहित कर्त्तव्योंका पालन केवल मात्र भगवान्‌की सेवाके उद्देश्यसे ही करना चाहिए। भगवान्‌के प्रेमीभक्तों की सेवाको अपना प्राण समझो। उनके द्वारा तुम्हारे जीवनका परम प्रयोजन प्राप्त होगा। कोई भी ऐसा कार्य न करो जिससे उन्हें असन्तोष हो। अन्यथा तुम्हरी पारमार्थिक मृत्यु हो जायगी। जो लोग भगवान्‌की अर्च्चा मूर्तिको पत्थर समझते हैं, गुरुदेवको मरणशील मानव मानते हैं, वैष्णवोंमें जातिबुद्धि रखते हैं, समस्त पापोंको धो देनेवाले विष्णु या वैष्णवोंके चरणामृतको साधारण जल मानते हैं, मंत्रों को साधारण शब्द मात्र समझते हैं तथा अन्य देवताओंको सर्वेश्वर विष्णुके समान मानते हैं-ऐसे व्यक्ति नारकी हैं, इनका संग कदापि नहीं करना चाहिए।

विष्णुकी पूजासे वैष्णव-पूजाका माहात्म्य बढ़ कर है तथा वैष्णवोंके प्रति किया गया अपराध विष्णुके प्रति किये गये अपराधसे अधिक गुरुतर होता है। विष्णुके चरणोदकसे वैष्णवोंका चरणोदक अधिक पवित्र होता है। —इन वचनोंको हृदयमें दृढ़तापूर्वक धारण कर वैष्णव-सेवामें निरन्तर नियुक्त रहो।

शरणागत व्यक्ति अपने भविष्यके लिए तनिक भी चिन्ता न करेंगे। क्योंकि इस विषयमें भगवान्‌का ही सम्पूर्ण हाथ है। यदि कोई अपनेको शरणागत मान कर भी भविष्यके लिये चिन्ता करता है, तो उसकी शरणागति झूठी और हास्यास्पद है। उसकी वर्त्तमान अवस्था उसके पहले किये हुए कर्मोंका फल है—ऐसा समझकर उसे प्रत्येक अवस्थामें सन्तुष्ट रहना चाहिए। वैष्णवोंको उसके वर्त्तमान या भविष्यके लिये कभी भी उद्विग्न नहीं होना चाहिए। बल्कि प्रत्येक अवस्थामें सन्तुष्ट रह कर श्री गुरुदेवके चरणोंमें शरणागत होकर भगवान्‌का अनन्य भजन करना चाहिए।

ऐसे वैष्णवको ढूढ़ो जो जितेन्द्रिय हों, परम तत्त्ववेत्ता हों तथा भक्ति-धनसे धनी हों और जो तुम्हें अपना प्रिय समझते हों। तुम अपनेको उनके चरणोंमें सौंप दो। उनके आदेशोंको अभिमान छोड़ कर पालन करते रहो। कल्याण प्राप्तिका यही अन्तिम और एकमात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त मैं कोई उपाय नहीं जानता। कल्याणकामी व्यक्ति मित्र, शत्रु और उदासीन—इन त्रिविध प्रकारके व्यक्तियों का विचार ध्यानमें लेकर चलेंगे। वैष्णव उनके मित्र है, भगवद्द्वेषीजन—उनके शत्रु हैं तथा संसारके प्रति आसक्त व्यक्ति—उदासीन हैं। परमार्थके प्रति उदासीन रहनेवाले व्यक्तिके प्रति तुम भी सम्पूर्ण उदासीन रहो, ठीक वैसे ही जैसे रास्तेमें पड़े हुए काठ और पत्थरोंके प्रति उदासीन रहते हो। यदि वे भगवत्तत्त्वके श्रवणमें रुचि दिखलावें तो उन्हें उपदेश दो। अन्यथा उनसे कोई पारमार्थिक सम्पर्क न रक्खो। भगवद्विद्वेषी व्यक्तियोंसे सर्वदा दूर रहो।

सांसारिक सुखके लिये भगवद्भक्तोंकी अवज्ञा कर विद्वेषी व्यक्तियोंके प्रति श्रद्धा दिखलानेसे भगवान्

असन्तुष्ट होते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी सम्राट् के निकट उसके प्रिय व्यक्तिका अपमान करनेसे सम्राट् असन्तुष्ट होता है । अतः किसी सांसारिक स्वार्थके लिये किसी संसारासक्त और परमार्थसे उदासीन व्यक्तिके प्रति श्रद्धा न दिखलाओ । क्योंकि परमार्थ और सांसारिक-स्वार्थ परस्पर सम्पूर्ण विपरीत धर्म हैं । यदि एक चमकता हुआ खरा सोना है, तो दूसरा मटमैला लोहा है ।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति मयुख भागवत महाराज

जैवधर्म

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष ३, संख्या ५, पृष्ठ १२० से आगे]

व्रजनाथ—'केन कं पश्येत्' (बृ० आ० ४।५।१५ और २।४।२४) इत्यादि श्रुतिकी वाणियों तथा 'अहं ब्रह्मास्मि', (बृ० आ० १।४।१०) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ० १।५।३), 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) आदि महावाक्योंके द्वारा भक्तिकी श्रेष्ठता और चरम साध्यता प्रमाणित नहीं होती । अतएव मुक्तिको चरम साध्य माननेमें क्या दोष है ?'

बाबाजी—'मैंने पहले ही बतलाया है कि प्रवृत्ति के अनुसार साध्य अनेक प्रकारके हैं । जब तक भुक्तिकी (भोगकी) कामना वर्त्तमान रहती है, तब तक 'मुक्ति' नामक कोई भी तत्त्व स्वीकृत नहीं हो सकता । उसके अधिकारियोंके लिये—'अक्षयं ह वै चातुर्मास्य-याजिनः' (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २।१।१) इत्यादि अनेक वाक्य लिखे गये हैं । तब क्या 'मुक्ति'—बुरी चीज है ? कर्मीगण भुक्ति अर्थात् इन्द्रिय-सुख ही चाहते हैं—मुक्तिका अनुसंधान नहीं करते । तो क्या इसका अर्थ यह है कि वेदादि शास्त्रों में 'मुक्ति' का उल्लेख ही नहीं है ? कतिपय कर्मी ऋषियोंका कथन है—समर्थ व्यक्तियोंके लिए कर्म करना ही कर्तव्य है, वैराग्य तो दुर्बल व्यक्तियोंके लिए है । ये सभी व्यवस्थाएँ निम्नाधिकारियोंको उनके अपने-अपने अधिकारोंके प्रति निष्ठा उत्पन्न करवानेके लिये दी गयी हैं । अधिकारसे च्युत होने पर जीवोंका कल्याण नहीं हो सकता है । अपने-अपने वर्त्तमान अधिकारमें पूर्ण निष्ठा रखते हुए कर्त्तव्य पालन करने से अगले उन्नत अधिकारमें सहज ही प्रवेश हो जाता है । अतएव वेदोंमें इस प्रकारकी निष्ठा उत्पन्न करने वाली व्यवस्थाओंकी निंदा नहीं की गयी है । यदि कोई ऐसी व्यवस्थाओंकी निन्दा करे, तो वह अधोगतिको प्राप्त होता है । संसारमें जितने भी उन्नत जीव हैं, वे सभी अपनी-अपनी अधिकार-निष्ठाका अवलम्बन करके ही उन्नत हुए हैं । कर्माधिकारमें कर्मों की ही अधिकतर प्रशंसा देखी जाती है । उसमें कर्मोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ मुक्ति-साधक ज्ञानकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन नहीं देखा जाता । उसी प्रकार ज्ञानाधिकारमें मुक्तिकी प्रशंसाके रूपमें उल्लिखित वेद-मन्त्रोंकी प्रतिष्ठा दृष्टिगोचर होती है । जैसे कर्माधिकारके ऊपर ज्ञानाधिकार अवस्थित है, उसी प्रकार ज्ञानाधिकारके ऊपर भक्ति अधिकार अवस्थित है । 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', आदि मन्त्रों द्वारा ब्रह्मनिर्वाणकी प्रशंसासे मुमुक्षु व्यक्तियोंको उनके अपने-अपने अधिकार में निष्ठा उत्पन्न करायी गयी है । इसलिये ज्ञानकी उत्कर्षता स्थापन करनेमें कोई दोषकी बात नहीं है । तथापि वह चरम तथ्य नहीं है । जहाँ तक सिद्धान्तकी बात है, वेदमें भक्तिको ही साधन और प्रेम-भक्तिको ही साध्य निर्णय किया गया है ।'

व्रजनाथ—क्या महावाक्यमें अवान्तर साध्य और साधन की बात रह सकती है ?'

बाबाजी—'आप जिन वेद-वाक्योंको महावाक्य बतला रहे हैं, उन्हें वेदमें कहीं भी न तो महावाक्य ही कहा गया है और न उन्हें दूसरे-दूसरे वेद-वाक्यों से श्रेष्ठ ही बतलाया गया है। ज्ञानाचार्योंने अपने मतकी प्रधानता स्थापन करनेके लिए इन वाक्योंको महावाक्य बतलाया है। वास्तवमें प्रणव ही ('ॐ' कार ही) महावाक्य है और उसके अतिरिक्त सारे वेदवाक्य प्रदेशिक वाक्य हैं। यों तो प्रत्येक वेदवाक्य को ही महावाक्य कहनेमें दोष नहीं है, परन्तु वेदका एक मन्त्र महावाक्य है और दूसरे मंत्र साधारण वाक्य हैं—ऐसा कहने से मतवाद उठ खड़ा होता है और वेदके निकट अपराधी होना पड़ता है। वेद में कहीं कर्मकाण्डकी प्रशंसा की गयी है, तो कहीं मुक्ति और भुक्ति की। परन्तु सिद्धान्त-स्थलमें चरम मीमांसाके रूप में एकमात्र भक्तिको ही साध्य-साधन माना गया है। वेद-शास्त्र गाय-स्वरूप हैं। इस गायका दोहन करनेवाले श्रीनन्दनन्दनने सिद्धान्त स्थलमें वेदोंका चरम तात्पर्य इस प्रकार बतलाया है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानीभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ (क)

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ (ख)
(गीता ६।४६-४७)

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ (ग)
(श्वे० ६।२३)

भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधि-नैरास्येनैवामुस्मिन् मनसः कल्पनम्; (गोपालपापनी पूर्वः १।२।२), (घ)

आत्मानमेव प्रियमुपासीत; (बृ० आ० १।४।८) (ङ)

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो
मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । (बृ० आ० ४।५।६) (च)

—'इन वेद-वाणियोंका अनुशीलन करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है।'

व्रजनाथ—'कर्मकाण्डमें कर्मफल-दाता ईश्वरके प्रति भक्ति करनेकी विधि है। ज्ञान-काण्डमें भी भगवद्भक्तिकी व्यवस्था दीख पड़ती है। भक्ति यदि भुक्ति और मुक्ति प्राप्त करनेका साधन है, तब उसे साध्य कैसे कहा जा सकता है। वह भुक्ति और मुक्तिरूप साध्यको देकर कर स्वयं निरस्त हो जायगी—यह साधारण बात है। आप कृपा कर इस विषयकी यथार्थ शिक्षा प्रदान करें।'

बाबाजी—'कर्म-काण्डमें भक्ति-रूप साधन द्वारा भोगकी प्राप्ति होती है और ज्ञान-काण्डमें भक्तिरूप साधनसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है—यह सत्य है। क्योंकि परमेश्वरके सन्तुष्ट हुए बिना कोई भी फल नहीं होता और परमेश्वर एकमात्र भक्तिसे ही सन्तुष्ट

(क) अर्जुन ! समस्त प्रकारके कर्मियों, तपस्वियों तथा ज्ञानियोंसे योगी श्रेष्ठ होता है। इसलिये तू योगी हो अर्थात् मेरे साथ योगयुक्त हो जा।

(ख) सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो दृढ़ श्रद्धासे मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वही योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

(ग) जिस साधककी श्रीभगवान्में पराभक्ति है तथा जिस प्रकार भगवान्में है उसी प्रकार अपने गुरुमें भी शुद्धा-भक्ति है, उसी महात्माके सम्बन्धमें श्रुतियोंका रहस्यमय अर्थ सम्पूर्ण रूपसे प्रकाशित होता है।

(घ) श्रीकृष्णके प्रति भक्ति ही भजन है। लौकिकी और पारलौकिकी समस्त कामनाओंका परित्याग कर कृष्णके प्रति मनको समर्पण-पूर्वक प्रेमकी अधिकतासे तन्मय हो जाना ही भजन है।

(ङ) आत्माकी ही (परमात्मा श्रीकृष्णकी ही) प्रीतिपूर्वक उपासना करो।

(च) मैत्रेयि ! परमात्माका ही दर्शन करना होगा, श्रवण करना होगा, मनन करना होगा तथा निदिध्यासन करना होगा।

होते हैं। ईश्वर समस्त शक्तियोंके आश्रय हैं। जीवों-में अथवा जड़-वस्तुओंमें जो कुछ शक्ति है, वह ईश्वरकी ही शक्तिका अणु-प्रकाशमात्र है। कर्म अथवा ज्ञान ईश्वरको सन्तुष्ट नहीं कर सकता है। भगवद्भक्तिकी सहायतासे ही कर्म और ज्ञान फल प्रदान करते हैं, वे स्वतन्त्ररूपमें कोई फल प्रदान करने-में असमर्थ हैं। इसीलिये कर्म और ज्ञानमें भक्तिके आभासकी कुछ-कुछ व्यवस्था दिखलाई पड़ती है। इनमें जो भक्ति दिखलाई पड़ती है, वह शुद्ध भक्ति नहीं, बल्कि भक्तिका अभासमात्र होता है।

भक्ति-आभास दो प्रकारके होते हैं—शुद्ध भक्ति-आभास और विद्ध भक्ति आभास। शुद्ध भक्ति-आभासके सम्बन्धमें आगे बतलाऊँगा। विद्ध भक्ति-आभास तीन प्रकारके होते हैं—(१) कर्म-विद्ध भक्त्या-भास, (२) ज्ञान-विद्ध-भक्त्याभास और (३) कर्म-ज्ञान उभय-विद्ध भक्त्याभास। यज्ञ आदिके समय, 'हे इन्द्र! हे पुषन्! आप लोग कृपा कर हमें यज्ञका फल दान करें। इस प्रकारकी कामनाओंसे युक्त होकर जो सब भक्ति-आभासकी क्रियाएँ होती हैं, वे सब कर्म-विद्ध भक्त्याभास हैं। कर्म विद्धभक्त्याभासको कोई महात्मा 'कर्म-मिश्रा भक्ति' और कोई-कोई 'आरोप-सिद्धा' भक्ति भी कहते हैं।

'हे यदुनन्दन! मैं संसारसे डर कर तुम्हारे पास आया हूँ तथा मैं दिनरात तुम्हारा 'हरेकृष्ण' नाम लेता रहता हूँ। तुम कृपा कर मुझे भक्ति प्रदान करो, 'हे परमेश्वर! तुम्हीं ब्रह्म हो; मैं मायाजालमें फँसा हुआ हूँ। तुम इस मायाजालसे मेरा उद्धार कर अपनेमें मिला लो—अभेद कर दो' ये सब भावनाएँ ज्ञानविद्धभक्त्याभास हैं। महात्मा लोग इसे ज्ञान-मिश्र भक्ति भी कहते हैं। यह भी आरोप-सिद्धा भक्ति ही है। ये सभी शुद्धा भक्तिसे पृथक् हैं।

'श्रद्धावान् भजते यो माम्'—इस वाक्यसे भगवान ने जिस भक्तिका उद्देश्य किया है वही शुद्ध भक्ति है। वही शुद्ध भक्ति हमरा साधन है और सिद्धावस्थामें वही प्रेम है। कर्म और ज्ञान—ये दोनों क्रमशः भुक्ति और मुक्तिके साधन हैं। ये जीवोंके नित्य सिद्धभावके साधन नहीं हैं।'

व्रजनाथ इन सब तत्त्वोंका श्रवण कर उस दिन और कोई प्रश्न न कर सके। वे मन-ही-मन कहने लगे—'न्याय शास्त्रकी युक्तियाँ (फाँकियाँ) अन्वेषण करनेकी अपेक्षा इन सब सूक्ष्म तत्त्वोंका विचार करना कहीं अधिक उत्तम है। बाबाजी इस विषयमें पारंगत हैं। मैं क्रमशः इस विषयमें इनसे जिज्ञासा कर ज्ञान अर्जन करूँगा। आज अधिक रात हो गयी है, अब घर चलना चाहिए।'

—ऐसा सोच करके बोले—'बाबाजी महाशय! आज मुझे आपसे बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ। मैं बीच-बीचमें आपके पास आकर शिक्षा प्राप्त किया करूँगा। आप बड़े अनुभवी और प्रकाण्ड विद्वान् हैं; मुझ पर कृपा करेंगे। आज मैं एक और बात पूछना चाहता हूँ, आज देर हो गयी है, इसीका उत्तर सुनकर घर चला जाऊँगा। क्या श्रीशची-नन्दन गौरांगने कोई ग्रन्थ लिखा है, जिसमें उनकी समस्त शिक्षायें पायी जा सकें। यदि है तो उसे मैं पढ़ना चाहता हूँ।'

बाबाजी—'श्रीश्रीमहाप्रभुजीने स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है। उनके भक्तोंने उनकी आज्ञासे अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं। महाप्रभुजीने स्वयं सूत्रके रूपमें 'शिक्षाष्टक' नामक आठ श्लोक लिखकर जीवोंको दिया है। यह 'शिक्षाष्टक' भक्तोंके गलेका हार है। इन आठ श्लोकोंमें ही उन्होंने वेद-वेदान्त, उपनिषद् और पुराणोंकी सारी शिक्षाएँ गागरमें सागरकी तरह भर दी है। भक्तोंने उनकी इन गूढ़ शिक्षाओंके आधार पर 'दसमूल' की रचना की हैं। इस दसमूलमें सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजनका विचार साध्य और साधनके सूत्र-रूपमें कहा गया है। आप सबसे पहले इसे समझ लीजिए।'

व्रजनाथ—'जैसी आज्ञा। कल फिर शामके बाद आऊँगा। आप मुझे दसमूलकी शिक्षा दीजियेगा।

आप मेरे शिक्षा गुरु हैं'—ऐसा कहकर व्रजनाथने बाबाजी महाराजको दण्डवत-प्रणाम किया। बाबाजी ने स्नेहसे गद्गद् होकर उन्हें अपने गलेसे लगा लिया और कहा—'बाबा ! तुमने ब्राह्मण-कुलको पवित्र कर दिया। कल शामको आकर मुझे आनन्द प्रदान करना।'

॥ बारहवाँ अध्याय समाप्त ॥

* प्रथम खण्ड समाप्त *

श्रीश्रीव्रज-मण्डलकी परिक्रमा, कार्त्तिक-व्रत तथा श्रीश्रीअन्नकूट-महोत्सव

पिछले वर्षोंकी तरह इस वर्ष भी श्रीश्रीगौड़ीय वेदान्त-समितिने समितिके प्रतिष्ठाता एवं आचार्य—परमहंसकुल मुकुटमणि १००८ श्रीश्रीमद् भक्ति प्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके आनुगत्यमें उर्जव्रत (कार्त्तिक व्रत) पालनके उपलक्ष्यमें श्रीश्रीव्रजमण्डल की परिक्रमा और श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारीजीका अन्नकूट महोत्सव खूब समारोहसे मनाया है। गत ६ अक्टूबर ८ बजे रातमें हावड़ा (कलकत्ता) स्टेशनसे यात्रा कर रास्तेमें गया, काशी और प्रयाग आदि तीर्थोंका विधिवत दर्शन कर यात्रियोंका दल १७ अक्टूबरको श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा धाममें उपस्थित हुआ। यह विराट अनुष्ठान ८ अक्टूबरसे आरम्भ होकर ७ नवम्बर पूर्णिमा तक धूम-धामसे मनाया गया है। प्रतिदिन श्रीविग्रहोंकी सेवा-पूजा, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंके प्रवचन, संकीर्त्तन, वेद-वेदान्त, उपनिषदों तथा पुराणोंके पारंगत बड़े-बड़े विद्वानों और साधु-सन्तोंके तात्त्विक और सारगर्भित भाषण तथा धाम परिक्रमाका कार्य-क्रम नियमित रूपमें अनुष्ठित हुआ है। पूज्यपाद त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद् भक्ति जीवन जनार्दन महाराज, त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराज, त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद् भक्ति वेदान्त नारायण महाराज तथा त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद् भक्ति वेदान्त शुद्धाद्वैती महाराजके श्रीमद्भागवत, बृहद्-भागवतामृत, श्रीचैतन्यचरितामृत आदि शुद्ध भक्ति-ग्रन्थोंके प्रवचनों और भाषणोंको सुनकर यात्रीगण मुग्ध हो पड़ते तथा अपने जीवनको सार्थक मानते। बंगालके विशेषतः गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायके प्रसिद्ध कीर्त्तनीया श्रीपाद मोहिनीमोहन भक्ति शास्त्री, राग-भूषण महोदय अपने सुन्दर सरस और मधुर कीर्त्तनों से थके-माँदे यात्रियोंके दैहिक क्लांति दूर कर उन्हें अप्रकृत रस-समुद्रमें—कृष्ण प्रेम उदधिमें निमज्जित कर देते। सर्वोपरि आचार्यदेव अपने तात्त्विक और सारगर्भित भाषणोंमें भक्त, भक्ति, भगवान् तथा भगवद्धामके तत्त्वका ऐसा सुन्दर विवेचन प्रस्तुत करते कि श्रोत्रि-मण्डली ठगी सी रह जाती।

बीच-बीचमें पूज्यपाद त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद् भक्ति प्रकाश अरण्य महाराज, त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद् भक्ति गौरव वैखानस महाराज, त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज, त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिसर्वस्व गिरि महाराज, त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिदयित माधव महाराज, त्रिदण्डि स्वामी भक्तिसौरभसार महाराज, त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिसुहृदअकिंचन महाराज आदि त्रिदण्डि

पादगण अपने-अपने दलबल और सेवक-मण्डलियोंके साथ श्रीकेशवजी गौड़ीय मठमें पधार कर अपने सार-गर्भित उपदेशों, भाषणों तथा मधुर कीर्त्तनोंसे मठ-प्राङ्गणमें भक्तिकी पुनीत सरिता प्रवाहित कर देते। यों तो श्रीकेशवजी गौड़ीय मठमें साल भर तक निरन्तर हरि-संकीर्त्तन और हरि-कथा-मन्दाकिनी प्रवाहित हुआ करती है, परन्तु उर्जव्रत (कार्त्तिक व्रत) के अवसरपर एक महीने तक यहाँ कीर्त्तनाख्या-भक्तिका मानो समुद्र लहराने लगता है, जिसमें श्रद्धालु भक्तजन निमज्जित होकर तन-मनकी सुध-बुध खोकर अप्राकृत प्रेमानन्दका अस्वादन कर अघाते नहीं हैं।

श्रीपाद रसराज व्रजवासी 'न्यायकोविद' श्रीसुदाम सखा ब्रह्मचारी, श्रीप्रबुद्ध कृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीगौरा-चान्द दास ब्रह्मचारी, श्रीस्वाधिकारानन्द ब्रह्मचारी आदिकी सेवा-प्रचेष्टाएँ विशेष उल्लेख योग्य और सराहनीय रही हैं। इन लोगोंकी सेवा-कुशलताके कारण ही इतने बड़े अनुष्ठानमें यात्रियोंको तनिक भी कष्ट का अनुभव नहीं हुआ।

इस अनुष्ठानके अन्तर्गत ७ कार्त्तिक, २४ अक्टूबर को श्रीश्रीगुरुगौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारीजीका विराट अन्नकूट महोत्सव और १७ कार्त्तिक ३ नवम्बर, उत्थान एकादशीके दिन श्रीगौरकिशोरदास बाबाजी महाराजका तिरोभाव महोत्सव भी खूब समारोहके साथ मनाये गए हैं। श्रीश्रीअन्नकूटके अवसर पर नगरके अनेक संभ्रान्त और गणमान्य पुरुष और महिलाएँ, धनी और गरीब सब तरहकी श्रद्धालु जनता तथा साधु-संन्यासी हजारों २ की संख्यामें उपस्थित हुए थे। सबको श्रीश्रीअन्नकूटका विविध प्रकारका महा-प्रसाद वितरण किया गया। स्थानीय लोगोंका सहयोग स्तुत्य था। सभी लोग जिन्होंने इस अनुष्ठानको सफल बनानेमें योग दिया है, धन्यवादके पात्र हैं।

श्री अन्नकूट, एकादशी और पूर्णिमाके परम पुनीत दिन स्थानीय मथुरा नगरके तथा बंगाल और आसाम आदि स्थानोंके अनेक श्रद्धालु व्यक्ति श्रीश्री-आचार्यदेवसे शास्त्रीय विधियोंके अनुसार हरिनाम ग्रहण कर हरिभजनमें प्रवृत्त हुए हैं।

८४ कोस व्रजमण्डलकी परिक्रमा करके गत ७ नवम्बर बृहस्पतिवार पूर्णिमाके दिन चातुर्मास्य व्रत, दामोदर व्रत, नियम सेवा अथवा उर्जव्रत समाप्त कर यात्रीदल ८ नवम्बरको संरक्षित ट्रेन द्वारा (तूफान एक्सप्रेससे) हावड़ाको रवाना हो गया।

जयपुरमें आचार्यदेव

कतिपय श्रद्धालु भक्तोंके विशेष अनुरोध पर श्रील आचार्यदेव कतिपय ब्रह्मचारियोंके साथ गत ११ नवम्बरको जयपुरमें पधारे तथा वहाँ पर ५ दिनों तक श्रीचैतन्य-महाप्रभु द्वारा आचरित और प्रचारित प्रेम धर्मका प्रचार कर विशेष रूपसे १४ नवम्बरको गलता गद्दीमें वहांके पण्डितोंसे गौड़ीय वेदान्ताचार्य बलदेव विद्या-भूषणके विचारोंके सम्बन्धमें विचार कर १६ नवम्बरको केशवजी गौड़ीय मठ, मथुरामें पुनः पधारे हैं। यहाँ पर वे कुछ दिनों तक ठहर कर निर्मल भक्ति-धर्मका प्रचार करेंगे। आशा है, श्रद्धालु जनता उनके तात्त्विक, दार्शनिक तथा सारग-र्भित भाषणों, प्रवचनों तथा अनुभवोंसे पूरा लाभ उठायेगी।

—प्रकाशक

अचिन्त्यभेदाभेद

चतुर्थ सिद्धान्त

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष ३, संख्या ५, पृष्ठ ११७ से आगे]

मंगलाचरणके सम्बन्धमें श्रीजीव गोस्वामी द्वारा मध्वाचार्यका आनुगत्य

ग्रन्थ-लेखक या टीकाकार मंगलाचरणमें ही अपने अभिप्राय और प्रतिपाद्य विषयका कुछ-कुछ झलक दे देता है। विद्याविनोद महाशयके 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' ग्रन्थमें मंगलाचरण न होनेके कारण उक्त ग्रन्थके सिरनामामें जो 'वाद'-स्वरूप "अचिन्त्यभेदाभेदवाद" लिखा गया है, उसके द्वारा वे अचिन्त्यभेदाभेदवाद स्थापन करनेमें सम्पूर्ण असफल तो रहे ही हैं, अधिकन्तु उन्होंने-महाप्रभुका सम्प्रदाय श्रीब्रह्ममाध्व-गौड़ीय सम्प्रदाय नहीं है, बल्कि अद्वैतवादी सम्प्रदाय है—प्रमाणित करनेके लिये भरपूर चेष्टा की है।† इसके सम्बन्ध में 'वाद'—ग्रन्थके तेरहवें प्रसंग (२३६ पृष्ठ) में एक अत्यन्त निर्लज्ज और दुस्साहसिक प्रसंग उठाया गया है। मैं उक्त प्रसंगकी दो एक बातें यहाँ पर उद्धृत कर उनके दुष्ट अभिप्रायका खण्डन कर रहा हूँ। यथा—

श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायके माध्व-सम्प्रदायके अन्तर्गत होनेके विपक्षमें दी जाने वाली प्रधान-प्रधान युक्तियाँ नीचे दी जा रही हैं—

"१—(क) माध्व सम्प्रदाय और गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायमें परस्पर (१) साधन, (२) साध्य, (३) शास्त्र, (४) इष्ट, (५) भाष्य और (६) वाद—ये ६ भेद वर्तमान हैं।"

[हमलोग इसे प्रमाणित करेंगे कि इनमेंसे किसी भी क्षेत्रमें इन दोनों सम्प्रदायोंमें भेद नहीं है। —लेखक]

"(ख) — चारों सम्प्रदायोंके प्रवर्त्तकगण जिनके सेवक हैं, वे श्रीकृष्णचैतन्यदेव इनमें से किसी एक की परम्परामें कैसे हो सकते हैं?"

"(ग)—श्रीमन्महाप्रभुने माध्वमतका खण्डन किया है, अतः वे माध्व सम्प्रदायके नहीं हो सकते।

---

† श्रीगौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायके माध्वसम्प्रदायके अन्तर्गत होने के विपक्षमें दी जानेवाली प्रधान-प्रधान युक्तियाँ नीचे दी जारही हैं :—

५—श्रीचैतन्य-चरितामृत (म. ८।४५, १२३; अ. ७।१६) और श्रीचैतन्य-चन्द्रोदय नाटककी (५।२८-२९ बरहमपुर संस्करण,, चैतन्याब्द-४०१) वाणियोंसे प्रतीत होता है कि श्रीचैतन्यदेव केवलाद्वैतवादी सम्प्रदायके संन्यासी थे तथा उनके संन्यास लीलाके गुरु श्रीकेशव भारती भी केवलाद्वैतवादी संन्यासी ही थे। श्रीकृष्णचैतन्यदेवने अपनेको स्वयं मायावादी संन्यासी तो कहा ही है, अधिकन्तु काशीके मायावादी संन्यासियोंके गुरु प्रकाशानन्द सरस्वतीने भी उनको मायावादी सम्प्रदायका एक संन्यासी बतलाया है—

'केशव भारतीर शिष्य, ताहे तुमि धन्य।'
'साम्प्रदायिक संन्यासी तुमि रह एई ग्रामे।'

यही नहीं, श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यने भी जगन्नाथपुरीमें श्रीकृष्ण चैतन्यदेव को पहली बार दर्शन करने पर कहा था—

"भारती सम्प्रदाय,—एइ हयेन मध्यम।" (चै. च. म. ६।७२)

इसलिए गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायको 'श्रीमाध्व-गौड़ीय-सम्प्रदाय नहीं कहा जा सकता, बल्कि गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदाय एक पृथक् और स्वतन्त्र सम्प्रदाय है, जिसे श्रीगौरचन्द्रने स्वयं चलायी है।"

विद्याविनोद महाशयने उक्त (ग) अनुच्छेदके प्रमाणमें रासविहारी मठ, कटकके अध्यक्ष 'राधाकृष्ण वसु महाशयके सन् १९२६ ई. में प्रकाशित 'वीर-भूमि' नामक पत्रिकाकी ६।४ संख्याके पृष्ठ १८८-१८९ में लिखित एक संस्कृत व्यवस्था-पत्रका उल्लेख किया है। विद्याविनोद महाशयके ग्रन्थमें अनेकानेक स्थलोंमें इसी प्रकारके प्रमाण ही उद्धृत हुए हैं। रासविहारी मठ—उड़िसा-प्रदेशमें प्राकृत सहजिया जनोंका एक प्रधान अड्डा है। उसके अध्यक्ष राधाकृष्ण वसुके मतवादको प्रमाणके रूपमें कैसे ग्रहण किया जा सकता है? अपने कुमतका स्थापन करनेके लिए अपनेसे हीन व्यक्तिका मत भी ग्रहण करना होता है, हम इसे लज्जाकी बात समझते हैं। अंग्रेजी में एक कहावत है— "A drowning man catches at a straw."— "डूबते हुएको तिनका सहारा होता है।"

यदि राधा-कृष्ण वसु महाशयका संस्कृत व्यवस्था-पत्र विद्याविनोद महाशयके लिये इतने आदरकी और प्रमाणित वस्तु है, तो मैं कहूँगा, राधाकृष्ण वसु महाशयसे अत्यन्त उच्च कोटिके विद्वान् और अधिक प्रतिष्ठाशाली त्यागी एवं संन्यासी नवद्वीप धामके श्रीगुरु आश्रमके प्रतिष्ठाता श्रीश्री गौर-गोविन्दानन्द भागवत स्वामी द्वारा लिखित संस्कृत व्यवस्था-पत्रको ही क्यों न ग्रहण किया जाय? यह व्यवस्था पत्र रासविहारी-मठ कटकसे प्रचारित उक्त व्यवस्था-पत्रके प्रतिवादमें उक्त स्वामीजी द्वारा उस समय लिखा गया जिस समय नवद्वीपके समस्त वैष्णवोंको रासविहारी-मठसे प्रचारित व्यवस्था-पत्र पढ़ कर बहुत ही क्षोभ

"निरन्तर इहाके वेदान्त सुनाइब।
वैराग्य-अद्वैतमार्गे प्रवेश कराइब॥
कहेन यदि, पुनरपि योग-पट्ट दिया।
संस्कार करिये उत्तम सम्प्रदाये आनिया॥" (चै. च. म. ६।७५-७६)

इनके अतिरिक्त श्रीब्रह्मानन्द भारतीको श्रीकृष्णचैतन्यदेवका गुरुके समान सम्मान देना और फिर भारतीको मायावादी संन्यासियोंकी तरह मृगछाला पहने हुए देख कर—"भारती गोस्वामी केने परिवेन चाम?" (चै. च. म. १०।१५७) आदि उनकी वाणियोंसे तथा श्रीब्रह्मानन्द भारती की "अजन्म करिनु मुञि 'निराकार' ध्यान। तोमा देखि 'कृष्ण' हैल मोर विद्यमान॥ कृष्णनाम स्फुरे मुखे मने-नेत्रे कृष्ण। तोमाके तद्रूप देखि' सेई दशा हइल आमार॥ 'अद्वैतवीथी-पथिकैरुपास्याः, स्वानन्दसिंहासन-लब्धदीक्षाः। हठेन केनापि वयं शठेन दासी कृता गोपवधू-विटेन॥' (चै. च. म. १०।१७५-१७८) इत्यादि उक्तियोंसे स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि, क्या केशव भारती, क्या ब्रह्मानन्द भारती और क्या श्रीकृष्णचैतन्यदेव सभी केवलाद्वैतवादी संन्यासी ही थे।

—(विद्याविनोद द्वारा लिखित 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद', पृष्ठ-२४६-२४७ से)

[अद्वैतवादी केशव भारतीके निकट संन्यास लेनेके कारण श्रीमन्महाप्रभु केवलाद्वैतवादी सम्प्रदायके अन्तर्भूत हो पड़े हैं--विद्याविनोद महाशयकी इस युक्तिका अवलम्बन कर यह भी कहा जा सकता है कि मध्वाचार्य भी केवलाद्वैतवादी अच्युतप्रेक्षसे संन्यास लेनेके कारण केवलाद्वैतवादी संन्यासी हैं। अतएव महाप्रभुजीके मध्व सम्प्रदायके अन्तर्गत होनेमें बाधा ही कहाँ रही? जब दोनों ही अद्वैतवादी शंकरके सम्प्रदायके ही ठहरते हैं। दूसरी तरफ यह कहना भी अत्युक्ति न होगी कि-मध्वाचार्यने शंकर सम्प्रदायकी रीति-नीतिके अनुसार एकदण्ड ग्रहण किया था, इसीलिए उनकी देखा-देखी श्रीचैतन्य महाप्रभुने भी केशव भारतीके निकट एकदण्ड संन्यास ग्रहण किया है। इससे यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि गौड़ीय वैष्णवगण मध्वाचार्यके अनुगत हैं।--लेखक]

हुआ था और उन सबने एक साथ मिल कर स्वामी जीसे उसका प्रतिवाद करनेके लिये बहुत ही अनुरोध किया था । स्वामीजीने श्रीमध्वाचार्यको श्रीमन्महाप्रभुके गौड़ीय सम्प्रदायका मूलपुरुष बतला कर उनसे ही गौड़ीय वैष्णव संप्रदायकी उत्पत्ति माना है। नीचे अनुवादके साथ उनका व्यवस्था-पत्र उद्धृत किया जा रहा है—

मुख्येन सम्प्रदायित्वं सम्प्रदायविदां नये ।
सम्प्रदायिगुरोर्दीक्षा-मन्त्रग्रहणतो भवेत् ॥ १ ॥
शिष्टपराम्पराचार्योपदिष्ट-मार्ग एव हि ।
सम्प्रदाय इति ख्यातः सुधीभिः सम्प्रदायिभिः ॥ २ ॥
शिष्टत्वं नाम चाम्नाय-प्रामाण्याभ्युपगन्तृता ।
वेदानां विष्णुपारम्यात् शिष्टो वैष्णव उच्यते ॥ ३ ॥
अनत्परम्परत्वेन वैष्णवत्वं न सिद्ध्यति ।
अवैष्णवोपदिष्टेत्यादि—शास्त्र—प्रकोपणात् ॥ ४ ॥
तस्मात् शिष्टानुशिष्टानां परम्परां रिरक्षिषुः ।
स्वनिःश्वसितवेदोऽपि गौरो माध्वमतं गतः ॥ ५ ॥
सर्वजगद्गुरुः श्रीमद्गौराङ्गो लोकशिक्षया ।
पुरीश्वरं गुरुं कृत्वा स्वीचक्रे सम्प्रदायकम् ॥ ६ ॥
कश्चिन्मतविशेषोऽपि निरस्तस्तत्त्ववादिनाम् ।
श्रीमद्गौराङ्गदेवेन सम्प्रदायस्य तेन किम् ॥ ७ ॥
सम्प्रदायैक-दीक्षाणां मिथः किञ्चिन्मतान्तरात् ।
शाखाभेदो भवेन्मात्रं सम्प्रदायो न भिद्यते ॥ ८ ॥
रामानन्दी यथा रामानुजीयान्तर्गतो भवेत् ।
निम्बार्क-सम्प्रदाये च हरिव्यासादयो यथा ॥ ९ ॥
गौड़ीयस्तत्त्ववादी च तथा माध्वमतं गतौ ।
नह्यत्र बाधकः कश्चित् दृश्यते तत्त्ववित्तमैः ॥१०॥
तुष्यत्विति मतेनापि सम्प्रदाय-विनिश्चये ।
स्वीकृतं साधकत्वेन चेत् साध्यादि-विवेचनम् ।
तथाप्यत्यन्तभेदो न श्रीगौरमाध्वयो र्मते ॥११॥
मध्वमते च या मुक्तिः साध्यत्वेन प्रकीर्त्तिता ।
विष्णवाङ्घ्रि-प्राप्तिरूपा सा भाष्यकृद्भिः प्रदर्शिता । १२॥
साधनं चार्पितं कर्म जीवाधिकार-भेदतः ।
स्वकृतमपि मध्वेन भक्तेः श्रेष्ठं बहुस्तुतम् ॥१३॥
प्रमाणं भारतं मात्रं मध्वमतेऽनृतं वचः ।
यस्तेन त्रिविधं प्रोक्तं मुख्यं शब्द प्रमाणकम् । १४॥
श्रीमन्नर्त्तक-गोपाल- सेवा येन प्रतिष्ठिता ।
इष्टत्वेन कथं तस्य निर्णीतो द्वारकापतिः ॥१५॥*

* सम्प्रदायविद्जनोंके मतानुसार सम्प्रदायी गुरुसे दीक्षा-मंत्र ग्रहण करने पर ही सम्प्रदाय मुख्यरूपमें सिद्ध होती है ॥ १ ॥ सुधी सम्प्रदायिकजन शिष्ट परम्पराकी धारामें आचार्यके उपदिष्ट मार्गको ही सम्प्रदाय कहते हैं ॥ २ ॥ वेदोंकी प्रामाणिकताको स्वीकार करना ही 'शिष्टता' है । समग्र वेद विष्णुके परतत्त्वके ही ज्ञापक हैं, अतः विष्णुके परायण वैष्णवोंको ही शिष्ट कहते हैं ॥ ३ ॥ अवैष्णवजनोंके द्वारा दिये गये मंत्रोंसे नरक होता है । अतः जान-सुन करके भी जो वैष्णव परम्पराकी रक्षा नहीं करते, उनकी वैष्णवता सिद्ध नहीं होती ॥ ४ ॥ क्योंकि जिसके स्वासोंसे वेदोंकी उत्पत्ति हुई है, वे वेदकर्त्ता स्वयं गौरसुन्दरने भी शिष्ट-परम्पराकी रक्षा करनेकी इच्छासे मध्यमतको ही स्वीकार किया है ॥ ५ ॥ सम्पूर्ण जगतके गुरु श्रीमद् गौराङ्गदेवने लोक-शिक्षाके लिये ईश्वरपुरीको गुरु मानकर सम्प्रदाय स्वीकार किया है ॥ ६ ॥

श्रीमद्गौराङ्गदेवने माध्वमतावलम्बी तत्त्ववादियोंके किसी-किसी विचारोंका खण्डन किया है, परन्तु उससे सम्प्रदायका क्या बनता बिगड़ता है ? अर्थात् उससे सम्प्रदाय नष्ट नहीं होता ॥७॥ यद्यपि एक ही सम्प्रदायमें दीक्षित व्यक्तियोंके मतोंमें परस्पर कुछ कुछ अन्तर रह सकता है, किन्तु उनके सम्प्रदायमें भेद नहीं होता; भेद होता है केवल शाखाका ॥८॥ मतका वैशिष्ट्य रहने पर भी जिस प्रकार रामानन्दी वैष्णव रामानुजी सम्प्रदायके अन्तर्गत हैं और जिस प्रकार हरिव्यास आदिके मतोंका निम्बार्क मतसे कुछ-कुछ भिन्नता होनेपर भी वे निम्बार्की ही कहे जाते हैं, उसी प्रकार गौड़ीय सम्प्रदाय और तत्त्ववादी सम्प्रदाय दोनों ही माध्व मतावलम्बी हैं । तत्त्वज्ञ व्यक्ति ऐसा माननेमें कोई भी अड़चन नहीं दीख पाते ॥९-१०॥ 'तुष्यतु दुर्जन' – इस न्यायके अनुसार साध्यादिके विवेचनों द्वारा भी सम्प्रदाय स्थिरकी जा सकती है । यदि ऐसा भी किया जाय, तो गौर और मध्वमतमें कोई अधिक भेद नहीं है ॥११॥ मध्वमतमें

निश्चितो द्वारकाधीशो यद्यपि वा क्षतिः कुतः ।
यो नन्द-नन्दनः कृष्णः स एव द्वारकापतिः ।
स्वरूपयोर्द्वयोरैक्यं कृष्णत्वम्विशेषतः ॥१६॥
लीलाभिमान-भेदेन पूर्णतमश्च पूर्णकः ।
न तु स्वरूपतो भेदस्तयोरस्ति कथञ्चन ॥१७॥
भेदाभेदमतं यच्चाचिन्त्याख्यं कीर्त्यतेबुधैः ।
श्रीचैतन्य-मताभिज्ञैः तच्च मध्वमतेङ्गितम् ॥१८॥
जीवानां ब्रह्मवैजात्ये गुणांशत्वादभिन्नता ।
प्रतियोगित्वभेदत्वे चिन्मात्रत्वात्तदेकता ॥१९॥
तद्व्याप्यत्व-तदायत्त-वृत्तिकत्वादि-हेतुतः ।
सामानाधिकरण्यञ्च गोस्वामि-मध्वयोः समम् ॥२०॥
विचारमात्रनैपुण्यं शक्ति-शक्तिमतोरिह ।
गौरकृपोद्भवोऽचिन्त्य वादो गोस्वामिभिः स्मृतः ।
तत्त्वनिर्द्धारणे मुख्यः कारणवाद उच्यते ॥२१॥
पराख्य-शक्तिमद ब्रह्म निमित्तकारणं भवेत् ।
उपादानन्तु तद्ब्रह्म जीवप्रधान-शक्तियुक् ॥
इतिकारणवादेऽपि ह्युभयो र्मतयो समम् ॥२२॥

श्रीगोविन्दाभिधं भाष्यं प्रमाणं यदि मन्यते ।
प्रमेयरत्न-सिद्धान्त-निष्कृष्टा तत्समाहृतिः ॥२३॥
वक्ति श्रीगौर-सम्मतिं मध्वः प्राहेत्युपक्रमे ।
यदि वोपेक्ष्यते कैश्चित् तद्धर्द्धकुक्कुटीनयः ॥२४॥‡

गौड़ीय सम्प्रदायके मध्वसम्प्रदायके अन्तर्भूत होनेके सम्बन्धमें ये उपर्युक्त २४ श्लोक बड़े ही महत्व-पूर्ण हैं। हरिदासदास महाशय विद्याविनोद महाशयके बड़े-बड़े पृष्ठपोषकोंमें एक हैं। उन्होंने अपने दो खण्डों में प्रकाशित 'श्रीगौड़ीय-वैष्णव साहित्य' नामक ग्रन्थ के लगभग ५०० पृष्ठमें श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुके 'प्रमेयरत्नावली' ग्रन्थके प्रसंगमें उपर्युक्त श्लोकोंको उद्धृत किया है। उन्होंने गौरगोविन्दानन्द भागवत स्वामीजी द्वारा लिखित संस्कृत-मीमांसा-पत्रको प्रमाण के रूपमें ही स्वीकार किया है। स्मरण रहे, विद्या-विनोद महाशयने भी इसी ग्रन्थसे अनेकों प्रमाण अपने उक्त 'वाद' आदि ग्रन्थोंमें उद्धृत किये हैं। सुन्दरानन्दके पृष्ठपोषक होनेपर भी हरिदास दास

जिस मुक्तिको साध्य माना गया है, उस मुक्तिका अर्थ भाष्यकारोंने 'विष्णु पदकी प्राप्ति' लगाया है ॥१२॥ मध्वाचार्यने जीवोंके अधिकार भेदसे अर्पित कर्मको साधन स्वीकार किया है; फिर भी उन्होंने अधिकांश स्थलमें भक्तिकी श्रेष्ठता ही स्थापित की है। मध्वमतमें केवल महाभारतकी ही प्रामाणिकता स्वीकारकी गई है--ऐसी मान्यता बिलकुल झूठ है; क्योंकि उन्होंने त्रिविध प्रकारके प्रमाण स्वीकार कर शब्द-प्रमाण (वेद) को ही मुख्य प्रमाण माना है ॥१४॥

जिन्होंने नृत्यगोपालकी सेवा स्थापित की है, उनके इष्टदेवता द्वारकापति श्रीकृष्ण कैसे निरुपित हो सकते हैं ॥१५॥ यदि उनके इष्टदेव द्वारकापति श्रीकृष्ण ही हों, तो इसमें दोष ही क्या है? नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण भी वही हैं, जो द्वारकापति श्रीकृष्ण हैं, अर्थात् स्वरूपतः अभेद हेतु दोनों स्वरूपोंका एकत्व और कृष्णत्व सिद्ध है ॥१६॥ लीला-अभिमानके भेदसे वेही कभी पूर्णतम् रूपमें प्रकाशित होते हैं, तो कभी पूर्णतर रूपमें। स्वरूपतः दोनोंमें तनिक भी भेद नहीं है ॥१७॥ जिस अचिन्त्यभेदाभेद मतका वर्णन महाप्रभुके मतके विद्वानों ने किया है, उसका इङ्गित मध्वमतमें भी पाया जाता है ॥१८॥ जीवसमूह ब्रह्मके विजातीय होनेके कारण ब्रह्मके गुणांश हेतु ब्रह्मसे अभिन्न हैं। एवं प्रतियोगित्वभेद (विशेषणगतभेद) होने पर भी चिन्मात्रत्व अंशमें वे ब्रह्मसे अभिन्न कहे जाते हैं। क्योंकि जो जिसका वाप्य है अथवा जिसकी वृत्ति जिसके अधीन होती है, वह उससे अभिन्न ही होता है। इसीलिये गोस्वामियों और मध्व मतावलम्बियों दोनोंमें जीव और ब्रह्मका समानाधिकरण (समान विभक्ति द्वारा निर्देश) समान रूपमें पाया जाता है ॥१९-२०॥ गोस्वामियोंने श्रीगौरचन्द्रकी कृपा द्वारा उत्पन्न शक्ति शक्तिमानके इस अचिन्त्यभेदाभेद-वादका वर्णन किया है, यह उनके विचारोंकी निपुणताका ही फल है, वास्तवमें तत्त्व-निरूपणमें कारणवादको ही प्रधान माना जाता है ॥२१॥

‡ पराशक्तिके आश्रय ब्रह्म ही निमित्त कारण है, तथा जीवसमूह और मायशक्तिके आश्रय-स्वरूप वही

बाबाजीने 'गौड़ीय-वैष्णव-साहित्य' के प्रथम खण्ड के ११२ पेजमें 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद श्रीमध्व मतके अन्तर्गत क्यों ?'—नामक शीर्षकमें विद्याविनोद महाशयके मतके विरुद्ध श्रीबलदेव विद्याभूषणका मत ही स्वीकार किया है।

विद्याविनोद महाशयने स्वयं 'वैष्णवाचार्य श्रीमध्व' नामक एक पुस्तक लिखी है। उसके प्रकाशक हैं—सुपति रंजन नाग, एम० ए० बि० एल० महोदय। यह पुस्तक ८ फरवरी १९३९ ई० में पुराना पल्टन, पो० रमण (ढाका) से प्रकाशित की गयी है। श्रीमन्महाप्रभुजीने श्रीमध्व सम्प्रदायको ग्रहण किया है—इसी विचारको लेकर ही उक्त पुस्तक लिखी गयी है। उनका वर्त्तमान 'वाद' ग्रन्थ उसी 'वैष्णवाचार्य श्रीमध्व' नामक पुस्तकका प्रतिवादमूलक ग्रन्थ है। हम उनके इन दोनों ग्रन्थोंके परस्पर विरुद्ध भावोंको आमने-सामने रख कर उनकी पूर्ण मतिच्छन्नताका अथवा उनके अर्द्ध पागलपनका परिचय प्रदान करेंगे। इस प्रकार विकृत मस्तिष्कसे युक्त और उन्मत्त चिन्ताधारामें डूबते-उतराते हुए व्यक्तियोंकी कलमसे निकला हुआ कोई भी सिद्धान्त शिक्षित समाजमें ग्रहण करने योग्य नहीं होता। यदि भारतीय दण्ड-विधि कानूनके अन्तर्गत ऐसा कोई विधान पाया जाता तो उनको न्यायालयमें उपस्थित कर इसके लिए दण्डित करनेका प्रयत्न किया जाता। मैं इस विषयमें न्याय-कोविद और विचारक महोदयोंकी दृष्टि विशेषरूपसे आकर्षण कर रहा हूँ।

तत्त्व सन्दर्भमें श्रीजीवका मध्वानुगत्य

श्रीजीव गोस्वामीके षट् सन्दर्भमें 'तत्त्व-सन्दर्भ' प्रथम सन्दर्भ है। यद्यपि उन्होंने प्रत्येक सन्दर्भमें ही मङ्गलाचरण किया है। तथापि तत्त्व-सन्दर्भके मङ्गलाचरणमें ही उन्होंने ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय स्पष्टरूपमें व्यक्त किया है। श्रीजीव गोस्वामीने तत्त्व-सन्दर्भमें जिस प्रकारसे मध्व-सम्प्रदायका आनुगत्य दिखलाया है—वही इस स्थल पर विवेचनाका विषय है। विद्याविनोद महाशयने अपने 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' ग्रन्थ के १३वें प्रसंगके २४१ पृष्ठके चौथे अनुच्छेदमें (क), (ख), (ग), (घ), और (ङ)—पाँच प्रकारकी युक्तियाँ पेश की हैं। इन युक्तिका तात्पर्य यह है कि गौड़ीय वैष्णवाचार्य मुकुटमणि श्रीजीवपादने तत्त्व-सन्दर्भके मङ्गलाचरणमें मध्व-सम्प्रदायके साथ गौड़ीय-सम्प्रदाय के किसी प्रकारके सम्बन्धका उल्लेख नहीं किया है। एवं श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने बलपूर्वक खींचातानी करके तत्त्व-सन्दर्भकी टीकामें मध्वका या मध्व सम्प्रदायका नाम उल्लेख किया है। हम उक्त (क), (ख), (ग), (घ), (ङ) प्रसंगोंसे सबसे पहले (क) और (ख) की समालोचना कर रहे हैं। यथा—

"(क) तत्त्व-सन्दर्भके मङ्गलाचरणमें श्रीश्रीजीव गोस्वामीकी वन्दना और श्रीबलदेव विद्याभूषणकी वन्दनामें पार्थक्य।

(ख) तत्त्व-सन्दर्भ (४ अनुच्छेद) में 'वृद्ध-वैष्णवैः'—शब्दमें श्रीजीव और श्रीबलदेवकी टीकामें पार्थक्य।" (क्रमशः)

ब्रह्म उपादान कारण भी हैं। इस प्रकार कारणवादके विचारसे भी दोनों मतोंमें समता ही दीख पड़ती है ॥२२॥ और यदि गोविन्द-भाष्यको प्रमाण माना जाता है, तो प्रमेयरत्नावलीमें उसके सार-सिद्धान्त ही संगृहीत हैं। उसके एक श्लोकमें ही "श्रीमध्व प्राह" द्वारा उपक्रम कर, 'हरिः कृष्णचैतन्यचन्द्रः' द्वारा उपसंहार करके यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मध्वमत ही श्रीचैतन्यदेवका मत है। यदि कोई इस सिद्धान्तकी उपेक्षा करे, तो इसके मतको 'अर्द्ध कुक्कुटी' न्याय ही माना जायगा अर्थात् आधे भागको मानना और आधे भागको न मानना—इसे 'अर्द्ध-कुक्कुटी' न्याय कहते हैं। ऐसे मत शास्त्र और युक्तिके विरुद्ध हुआ करते हैं ॥२३-२४॥